योगविद्या

वर्ष 11 अंक 5
मई 2022
सदस्यता डाकखर्च – रु100

बिहार योग विद्यालय, मुंगेर, बिहार, भारत

हरि: ॐ

योगविद्या का सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के संन्यासी शिष्यों द्वारा स्वास्थ्य लाभ, आनन्द और प्रकाश प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों के लिए किया जाता है। इसमें बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट तथा योग शोध संस्थान के क्रियाकलापों की जानकारियाँ प्रकाशित की जाती हैं।

सम्पादक – स्वामी ज्ञानसिद्धि सरस्वती

योग विद्या मासिक पत्रिका है। देर से सदस्यता ग्रहण करने पर भी उस वर्ष के जनवरी से दिसम्बर तक के सभी अंक भेजे जाते हैं।

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर, 811201, बिहार, द्वारा प्रकाशित।

थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, फरीदाबाद, 121007, हरियाणा में मुद्रित।

© Bihar School of Yoga 2022

पत्रिका की सदस्यता एक वर्ष के लिए पंजीकृत की जाती है। कृपया अपने आवेदन अथवा अन्य पत्राचार निम्नलिखित पते पर करें –

बिहार योग विद्यालय
गंगा दर्शन,
फोर्ट, मुंगेर, 811201
बिहार

✉ अन्य किसी जानकारी हेतु स्वयं का पता लिखा और डाक टिकट लगा हुआ लिफाफा भेजें, जिसके बिना उत्तर नहीं दिया जायेगा।

कुल पृष्ठ संख्या : 56 *(कवर पृष्ठों सहित)*

कवर एवं अन्दर के प्लेट : श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

कवर : 1982
प्लेट 1 : 1976; 2 : तिरुवनन्तापुरम्, 1982
3 : तिरुवनन्तापुरम्, 1982; 4 : 1976

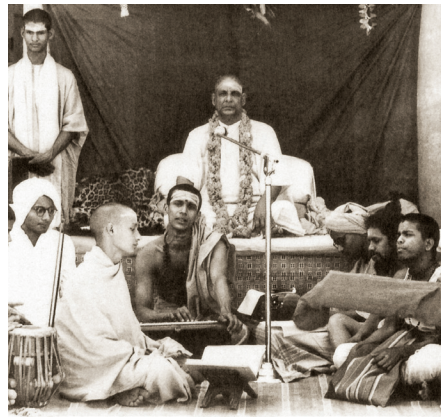

श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के प्रति गुरु-भाइयों की श्रद्धांजलि

पुष्पों के दिल ज्यों बहलाने आती है मधुर बयार।
त्यों आज मेरे लघु मानस से उठता है मधु का ज्वार।
हे प्रणम्य! बधाई का संदेश न करोगे स्वीकार क्या?
हिमशैलवासियों के उर की भावनाएँ
आज कुसुमित होकर, सजग होकर,
अभिनन्दन करती हैं तुम्हारा!
भेजता हूँ अपनी शुभकामनाएँ, ललित-कल्पनाएँ,
मृदु-मुग्ध-मन्थर-मन्दाकिनी की लहरियों के साथ,
पूत-पुनीत-प्रभंजन की अनुचरियों के साथ,
यही कि युग-युग जीओ!
कविता-ख्याति के चातक हे!
सौन्दर्य रसानुस्यूत गीतानुगीतियों के कलगायक हे!
मोद की मधु बेला में यह लो मेरी ओर से भी,
श्रद्धा के दो सुमन, तदनन्तर
बहु धन्यवाद! बहु साधुवाद!

– स्वामी रामानन्द सरस्वती

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर–811201, बिहार के लिए स्वामी शिवध्यानम् सरस्वती द्वारा प्रकाशित एवं मुद्रित
मुद्रक – थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, 18/35 माइलस्टोन, दिल्ली मथुरा रोड, फरीदाबाद–121007, हरियाणा
स्वामित्व – बिहार योग विद्यालय **सम्पादक** – स्वामी ज्ञानसिद्धि सरस्वती

योगविद्या

वर्ष 11 अंक 5 मई 2022
(प्रकाशन का 60 वाँ वर्ष)

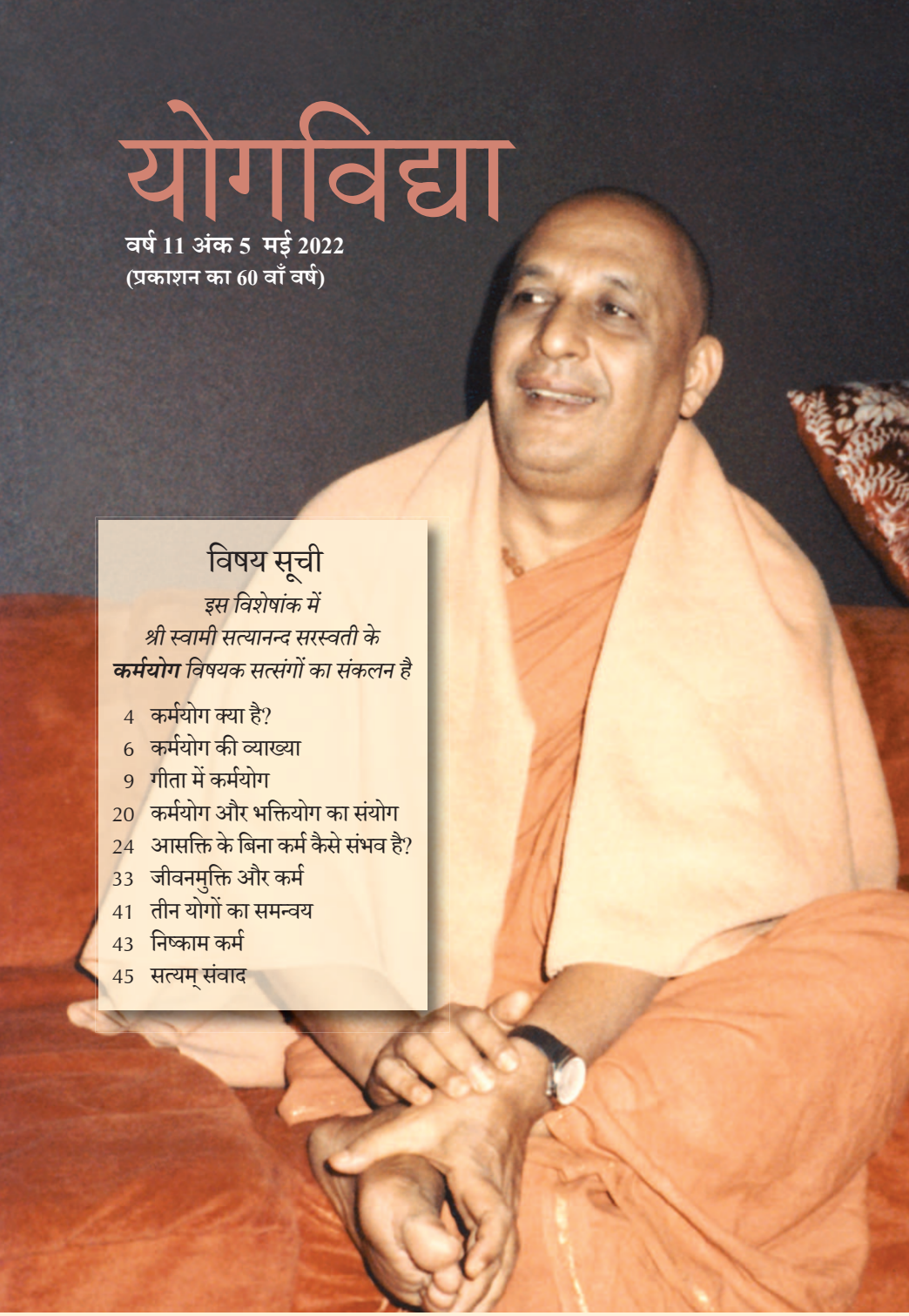

विषय सूची

इस विशेषांक में
श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के
***कर्मयोग** विषयक सत्संगों का संकलन है*

4 कर्मयोग क्या है?
6 कर्मयोग की व्याख्या
9 गीता में कर्मयोग
20 कर्मयोग और भक्तियोग का संयोग
24 आसक्ति के बिना कर्म कैसे संभव है?
33 जीवनमुक्ति और कर्म
41 तीन योगों का समन्वय
43 निष्काम कर्म
45 सत्यम् संवाद

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक:। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

कर्मयोग क्या है?

एक पहलवान को यदि चार-पाँच साल का बच्चा आकर धक्का मार दे तो उससे क्या होगा? वह थोड़ा-सा हिलेगा पर गिरेगा तो नहीं, धराशायी तो नहीं होगा, लेकिन उसी पहलवान को अगर एक हाथी धक्का मार दे तो क्या होगा? उस बेचारे का कचूमर निकल जायेगा। संक्षेप में यही है कर्मयोग का सिद्धान्त।

हम लोग अपेक्षा करते हैं, आशा रखते हैं और इसी के कारण हमें सुख-दुःख का अनुभव होता है। अपेक्षा, आशा और आसक्ति के कारण हमें सुख-दुःख होता है। कर्मयोग एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा मनुष्य अपने-आप को किसी भी क्षण संतुलित कर सकता है। जो भी घटनायें

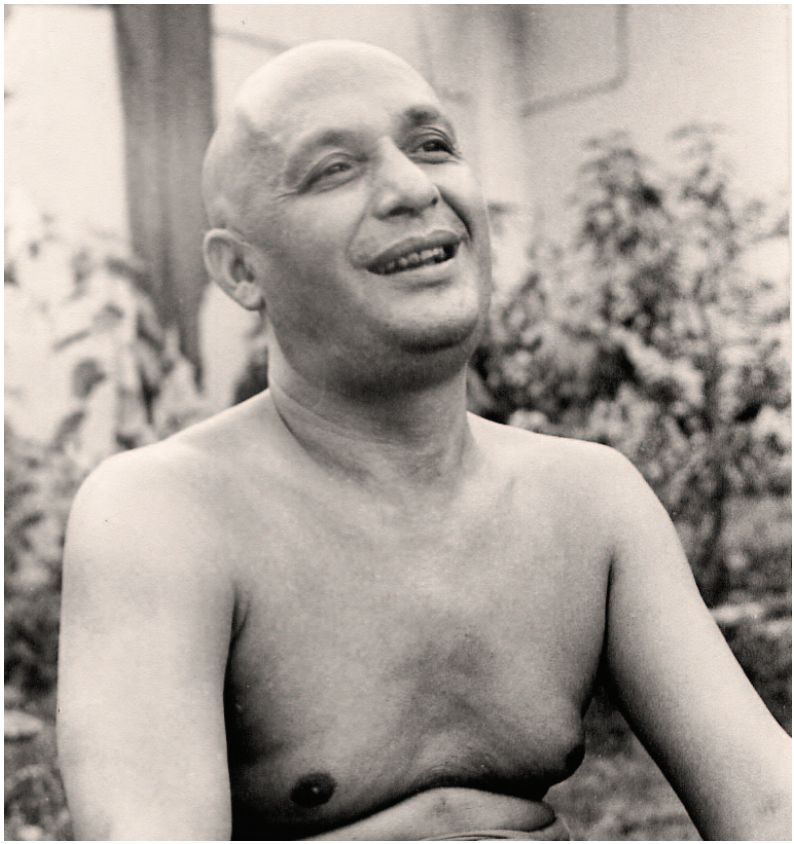

हमारे जीवन में घटती हैं या जो भी समस्यायें हमारे सामने उत्पन्न होती हैं वे हमारे जीवन को बहुत प्रभावित करती हैं। पैसा नहीं रहता है तो हम प्रभावित होते हैं, दुःखी होते हैं। पैसा रहता है तो भी प्रभावित होते हैं, खुश होते हैं। परिवार में कोई मरता है तो हम दुःखी होते हैं। हमारे जीवन में ये जितनी भी घटनायें होती हैं, अपेक्षा और आशा के कारण हमें असंतुलित कर देती हैं। आशा या अपेक्षा रखना खराब नहीं है, लेकिन इनका प्रभाव हमारे संतुलन को बिगाड़ देता है।

एक उदाहरण देते हैं। आज हमलोग इस आश्रम में हैं, इसको चला रहे हैं, यहाँ काम कर रहे हैं। मान लीजिये कल सरकार बदल जाती है और आश्रम का राष्ट्रीयकरण करके हम सबको आश्रम के बाहर कर देती है। उस स्थिति में हमलोगों का क्या होगा? कुछ नहीं होगा। दो रोटी खाना है, अपना काम करते जाना है और एक दिन मरना है। जीवन के हर क्षेत्र में बस कर्म करते जाना है। यहाँ आश्रम में रहने वाले बच्चे क्या अपेक्षा रखते हैं? उनको खाना मिलता है, कपड़ा मिलता है, उनको क्या मतलब कि आश्रम चले या न चले। यह है कर्मयोग की भावना, लेकिन संसारी लोगों को दो रोटी नहीं मिले तो उन्हें नर्वस ब्रेकडाउन हो जाता है।

दुनिया में जितने भी महापुरुष हुए हैं, चाहे वे श्री राम हों, श्री कृष्ण हों, स्वामी विवेकानन्द हों या स्वामी शिवानन्द हों, सब कर्मयोगी रहे हैं। श्रीकृष्ण का ही उदाहरण लीजिये, उनके जीवन में कितने संघर्ष, कितनी समस्याएँ रहीं, उसके बावजूद भी वे 125 साल तक जीवित रहे। उनको दिल का दौरा या नर्वस ब्रेकडाउन क्यों नहीं हुआ? अर्जुन को तो महाभारत युद्ध की शुरुआत में हो गया था। तभी तो वह कहता है कि 'मेरा शरीर काँप रहा है, रोम-रोम खड़े हो गये हैं, हाथों में पसीना आ रहा है, धनुष छूट रहा है, कुछ दिखलाई नहीं दे रहा है, कुछ समझ में नहीं आ रहा है।' यह नर्वस ब्रेकडाउन ही तो है। उसके मन में अपेक्षा थी। उस समय श्री कृष्ण ने क्या उपदेश दिया? उन्होंने कहा कि 'तुम कर्म करो, अपेक्षा मत करो, आसक्त मत बनो, सब नश्वर है। तुम्हारा कर्त्तव्य है कर्म करना।' जीवन की घटनायें भले ही हमें हिला दें, पर धराशायी तो नहीं कर पायेंगी। जो धराशायी हो जाते हैं वे फिर गये काम से। वे 'चौपट राम' कहलाते हैं और जो हिलकर भी अपना संतुलन नहीं खोते हैं, वे 'पुरुषोत्तम राम' कहलाते हैं। अब आप क्या बनना चाहते हैं, 'चौपट राम' या 'पुरुषोत्तम राम' आप स्वंय निर्णय कर लीजिये।

कर्मयोग की व्याख्या

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण कर्मयोग के बारे में समझाते हुए कहते हैं कि निष्काम कर्मयोगी आसक्ति को त्याग कर शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रिय द्वारा केवल अंतःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं –

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥5.11॥

यहाँ श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि कर्म केवल वही नहीं हैं जिन्हें हम बाह्य इन्द्रियों या शरीर से करते हैं, परन्तु मन और बुद्धि से किया कर्म भी कर्म कहलाता है और वही सच्चा कर्मयोगी है जो निष्काम और अनासक्त भाव से आत्मशुद्धि के लिए सभी कर्मों को करे। विवेक, साक्षी भाव और वैराग्य – ये कुछ मुख्य आधार हैं जिनके बिना न तो कर्मयोग का संपादन संभव है, और न ही मनुष्य कर्मों के प्रति सजग बन सकता है।

संसार में व्यक्ति पारिवारिक, सामाजिक, व्यक्तिगत, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक जैसे अनेक स्तरों पर कर्म करता है और सभी कर्मों में आसक्ति का अंश रहता है क्योंकि व्यक्ति अपनी इच्छापूर्ति एवं स्वार्थपूर्ति के लिए ही कर्म करता है। कर्म में लौकिक सुख या कभी-कभी आध्यात्मिक लाभ की कामना जुड़ी रहती है। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को बारम्बार यही कहते हैं कि तुमको संसार में रहना है और अपने कर्तव्यों का पालन करना है। कोई भी व्यक्ति उसका परित्याग नहीं कर सकता, चाहे वह आत्मज्ञानी ही क्यों न हो।

भगवान भी जब मनुष्य शरीर धारण कर पृथ्वी पर अवतार लेते हैं तब उन्हें भी मनुष्य के सदृश कर्तव्यों को निभाना पड़ता है। मनुष्य की तरह उन्हें भी सभी प्रकार के सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। जब भगवान भी अपने कर्तव्यों और कर्मों के अधीन रहते हैं, तब सांसारिक मनुष्य की बात क्या कहें। लेकिन यह बात याद रखें कि 'मैं न कर्त्ता हूँ, न भोक्ता हूँ।' इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही जीवन में कर्मयोग का प्रारंभ होता है। इस प्रकार कर्म, विचार, इच्छा और भावना से अप्रभावित रहने से आप अहंकार का नाश करने में समर्थ होते हैं, जो आध्यात्मिक उत्थान के लिए परम आवश्यक है। कर्मयोग को साधना, तपस्या या गुरुसेवा माना जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को गुरु उसकी मनोवस्था के आधार पर अलग-अलग कार्य, साधना या श्रम देते हैं जिसके माध्यम से वह अपनी मानसिक या लौकिक सीमा को तोड़ सके और एक उच्च चेतना का जागरण हो।

दुःख-दर्द का हमारे जीवन में क्या स्थान है?

जब हम दुःख-दर्द का अनुभव करते है तो सबसे पहले दुःख और दर्द के प्रति सजगता होनी चाहिए क्योंकि हमलोग अपने जीवन में हमेशा सुख की ही इच्छा करते हैं। इसका यही मतलब होता है कि हम अपने मन के, अपनी वृत्तियों के अधीन हैं। मन हमारा स्वामी है, हम गुणों के अधीन हैं, लेकिन जब हम दुःख-दर्द को स्वीकार करते हैं, दुःख-दर्द के माध्यम से अपनी शक्ति को, ईश्वर के प्रति अपनी आस्था और समर्पण के भाव को बढ़ाने का प्रयास करते हैं तब हम आत्मा के नजदीक पहुँचते हैं और ईश्वर की अनुभूति होने लगती है। जैसे माता कुन्ती का उदाहरण है, युद्ध के अन्त में वे श्रीकृष्ण से बोलती हैं कि आपने तो हमें सब कुछ दे दिया, लेकिन हम चाहते हैं कि दुःख आप नहीं लें, क्योंकि जब तक हमें दुःख था आप हमारे साथ थे और जब

हमको सुख मिलता तब आप बहुत दूर हो जाते। हम सुख में अपने आप को भूल जाते हैं और आपको भी भूल जाते हैं।

देखा जाये तो भगवान कृष्ण से माता कुन्ती की यह प्रार्थना अंतरात्मा की ही आवाज थी। आत्मा और ईश्वर का योग होता है दुःख के समय तथा आत्मा और ईश्वर का वियोग होता है भोगों के समय। हमलोग जिंदगी में सुख ही खोजते हैं। यदि योग की स्थिति हो तो जब दुःख, दर्द या कष्ट की अनुभूति हो तो वह तपस्या का रूप ले लेती है और तपस्या के माध्यम से हम अपने व्यक्तित्व में परिवर्तन लाते हैं। जिस प्रकार अग्नि में सोने को गलाकर उसे दूसरा रूप दिया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार दुःख में अपने व्यक्तित्व को गलाकर एक दूसरा रूप दिया जाता है तपस्या के माध्यम से। लेकिन सबसे पहले हमें यह जानना चाहिए कि दुःख को स्वीकार कैसे किया जाए, दुःख के प्रति हमारी सजगता, हमारी प्रतिक्रिया कैसी है? जब तक यह जानकारी नहीं मिलती तब तक कष्ट और दुःख को हमलोग दूर नहीं कर सकते और न उन्हें समझ सकते हैं। जब तक हम भोग की तरफ जाते रहेंगे तब तक दुःख, कष्ट, भय ही दिखेगा, लेकिन जब हम योग की तरफ जाएँगे, तब दुःख एक वरदान का रूप ले लेता है।

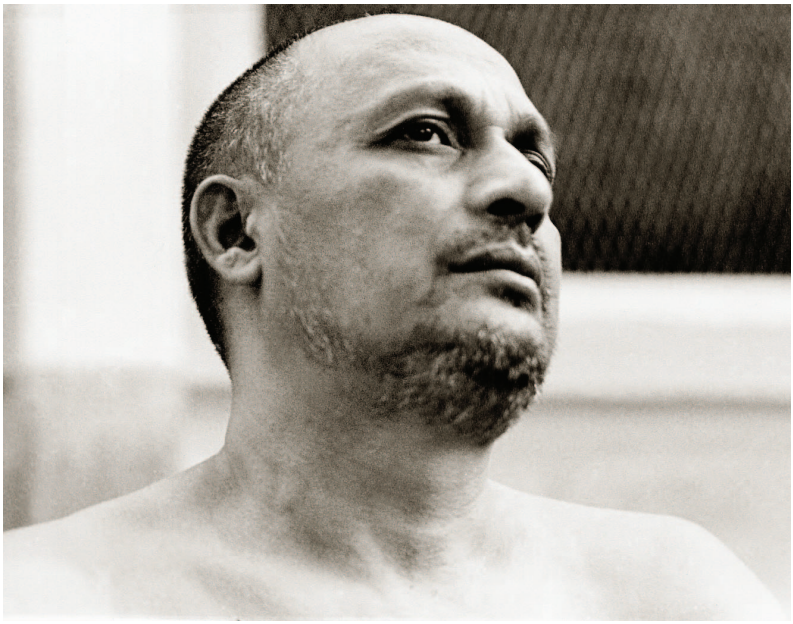

गीता में कर्मयोग

दर्शनशास्त्र के दृष्टिकोण से संसार में आज तक कोई भी धर्मग्रन्थ ऐसा नहीं लिखा गया जिसने इतनी स्पष्टता के साथ, इतनी हिम्मत के साथ, और इतने विश्वास के साथ कर्म को स्वीकार किया हो। संसार में जितने भी धर्मों या दार्शनिकों का आवागमन हुआ, उन सब लोगों ने अन्त में जाकर कर्म को, जगत् को हेय बतलाया, घृणास्पद बतलाया। केवल गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जिसने कर्म को योग के रूप में स्वीकार किया। जहाँ संसार के अन्य दार्शनिक कर्म को भोग का, संग्रह का, अपनी वासनाओं की पूर्ति का साधन मानते हैं, वहाँ गीता कर्म को योग का साधन मानती है, आप्तकाम होने का साधन मानती है। गीता मानती है कि परमात्मा के अनुभव में कर्म एक जरूरी कड़ी है। बिना कर्म के जीवात्मा का सुधार नहीं हो सकता, इस बात की अगर किसी ने दृढ़ विश्वास के साथ घोषणा की है, तो सिर्फ गीता ने।

वैसे भी हमलोगों के मन में कभी-कभी यह विचार उठता है कि आखिर जब कर्म का त्याग ही करना था तो भगवान या प्रकृति ने कर्म बनाया ही क्यों? पहले तो बनाया कर्म, और उस कर्म में हमको फँसा दिया, उसके बाद अपने सन्तों को भेजकर यह कहलवाया कि कर्म को छोड़ो, कर्म को त्यागो, कर्म को त्यागे बिना मुक्ति नहीं होगी! यह भ्रान्तिपूर्ण दर्शन मेरी समझ के बाहर है। अगर कोई ईश्वर है तो उसने कर्म क्यों बनाया? अगर उसने कर्म बनाया तो उसके दूत आकर कर्म का त्याग करने को क्यों कहते हैं? जरूर कहीं पर गलती है। काफी सोच-विचार करने पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि कर्म का निर्माण प्रकृति या भगवान ने उसको त्यागने के लिए नहीं किया है। कर्म का त्याग कभी हो ही नहीं सकता है। न वैरागी कर्म का त्याग कर सकता है, न जीवनमुक्त, यहाँ तक कि आलसी भी कर्म का त्याग नहीं कर सकता है। इसीलिए कर्म हेय नहीं है, त्याज्य नहीं है, कर्म कोई गलत चीज नहीं है, बल्कि कर्म के दर्शन को प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में समझना है।

कर्म की परिभाषा

कर्म क्या है? कर्म का मतलब है चेष्टा याने गति, क्रिया, प्रयत्न, पुरुषार्थ, हलचल। अब सवाल उठता है, चेष्टा किसकी? ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और

अन्त:करण की। इन तीन प्रकार की चेष्टाओं को कहते हैं कर्म। हाथ से आप गिलास उठाते हो, पैरों से आप दो कदम या दो मील चलते हो, उसको कहते हैं कर्म। आप लिखते हो, सुनते हो, खाते हो, सोते हो – ये सब कर्म हैं। यहाँ तक कि आप माँ के उदर से जन्म लेते हो और शरीर का त्याग करके यह जगत् छोड़ देते हो, यह भी कर्म है। कर्म का त्याग करना भी कर्म है, क्योंकि वह भी चेष्टा है। जीवन की समष्टि का नाम चेष्टा है। मृत व्यक्ति ही चेष्टाहीन हो सकता है। गीता में कहा है –

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवश: कर्म सर्व: प्रकृतिजैर्गुणै:॥3.5॥

कौन आदमी दुनिया में ऐसा है जो एक क्षण के लिये भी कर्मरहित हो सकता है? श्वास लेना भी तो कर्म है। इसीलिये गीता में दो प्रकार के कर्मों की बात कही गयी है। एक प्रकार के कर्म वे होते हैं जो अपने आप होते हैं जैसे सांस लेना, शरीर में चयापचय की क्रियायें होना – ये स्वचालित यानि अपने आप होने वाली क्रियायें हैं। दूसरे कर्म वे होते हैं जो कामना से प्रेरित होकर किये जाते हैं। मनुष्य जब किसी इच्छा से प्रेरित होकर उस वस्तु की प्राप्ति का प्रयत्न करता है, उसको कहते हैं कर्म। जैसे धन की इच्छा हुई, उसके लिए आपने बड़ी नौकरी खोज ली या डाका डालना शुरू किया, रिश्वत लेना शुरू किया, इसको कहते हैं कर्म या चेष्टा।

कर्मयोग

गीता कहती है साधारण मनुष्य कामनाओं की पूर्ति के लिए चेष्टा करता है और उसके मन में फल की आशा बनी रहती है। कर्म के फल की जो आशा बनी रहती है उसकी अगर पूर्ति हुई तो मनुष्य को सुख की प्राप्ति होती है और जब इच्छित फल की प्राप्ति नहीं हुई तो दु:ख होता है। जिससे सुख अथवा दु:ख की प्राप्ति हो, वास्तव में उसे ही कहते हैं कर्म। कर्म से सुख अथवा दु:ख की प्राप्ति तो होती ही है, परन्तु गीता ने एक ऐसा रास्ता निकाला है जो संसार में किसी ने भी नहीं निकाला। संसार के लोगों ने सिर्फ दो ही रास्ते देखे थे, एक रास्ता था त्याग का और दूसरा भोग का। या तो तुम कर्म को त्याग दो, क्योंकि जब तक कर्म करोगे तब तक झंझट, चिन्ता, तकलीफ, तनाव बना रहेगा। दूसरी ओर कुछ लोगों ने कहा, क्यों त्यागते हो कर्मों को?

आराम के साथ मौज उड़ाओ, संसार का आनन्द उठाओ, ये हुए भोगवादी मानसिकता के लोग।

गीता ने एक नया समन्वय खोज निकाला और उसे नाम दिया कर्मयोग। गीता के अनुसार संसार के साधारण-से-साधारण कर्मों को करते हुए भी हम अपने मन में एक ऐसी भावना बना सकते हैं जिसके द्वारा कर्म से उत्पन्न होने वाला जो फल है वह हमें प्राप्त नहीं होता। संसार में मनुष्य अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए प्रयत्न करता है। उसकी इच्छाएँ जब पूरी नहीं होतीं तो उसे बहुत दु:ख, बहुत निराशा होती है। इससे उसका व्यक्तित्व बिगड़ जाता है। आदमी अगर दिल का मजबूत रहा तो अपने को सम्हाल लेता है। अगर

वह दिल का कमजोर रहा तो उसका नर्वस ब्रेकडाउन हो जाता है, वह पराजित होकर गिर पड़ता है। क्यों? इसलिये कि उसने संसार से बहुत आशा की थी। लेकिन जो मनुष्य संसार में रहकर सब कुछ करता है, किन्तु संसार से कोई आशा नहीं रखता, ऐसा आदमी कर्मयोगी है। जो व्यक्ति संसार से बहुत बड़ी आशायें रखता है और सोचता है कि यह संसार मेरे लिये संतोषजनक होगा, यही संसार मेरे लिये सब कुछ है, ऐसे आदमी को संसार एक दिन पराजित कर देता है। ऐसे आदमी को अशान्त, चंचल, अस्थिर, विक्षिप्त या पागल कहते हैं। इस आशाहीन संसार से बड़ी-बड़ी आशायें करना, यही वह स्थान है जहाँ से दुनिया का सारा दु:खांत नाटक शुरू होता है।

अगर कोई सिर्फ इतनी-सी बात को पकड़ ले तो वह कर्मयोग में दाखिल हो गया। उसे कर्म मिटा नहीं सकता, बरसात भिगा नहीं सकती, आग उसे प्रभावित नहीं कर सकती। उसको न मच्छरों से फाइलेरिया हो सकता है, न खटमल से काला ज्वर। हैजा वालों के बीच रहने से उसे न हैजा हो सकता है, न चेचक वालों के साथ रहने से चेचक, न कोढ़ियों के घाव छूने से कोढ़। न मेहतर को छूने से वह अपवित्र हो सकता है, न विष्ठा छूने से। ऐसा शक्तिशाली आदमी कौन हो सकता है? जो संसार में कर्म करता है किन्तु फल की आशा नहीं करता। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥2.47॥

तुम्हारा दायित्व, तुम्हारा हक सिर्फ यह है कि तुम काम करो। उस काम से उत्पन्न होने वाला जो फल है, उस पर तुम्हारा हक नहीं है। वह तुम्हारे अधिकार के बाहर की चीज है। तुम कर्मफल के हेतु मत बनो।

कर्मफल से आसक्ति

कर्मफल का हेतु बनना क्या चीज है? एक उदाहरण देता हूँ। दो माली थे। वे एक दिन बाजार गये और वहाँ से सौ-सौ आम के पौधे खरीद लाये और अपने बगीचे में लगा दिए। रात को अपने बिस्तर में सोया हुआ एक माली सोचने लगा, 'सौ आम लगाये हैं, कलमी आम हैं, पाँच साल के बाद जरूर इतने फल देंगे और इस दर के मुताबिक बेचने पर मुझे जरूर इतने रुपये मिलेंगे। पहले साल के लाभ से मैं इतने सरकारी बॉण्ड खरीदूँगा जिससे पाँच साल में

मुझे इतना ब्याज मिलेगा।' वह इसी तरह के हवाई किले बनाने लगा। कुछ सालों में उसने आमों का निर्यात भी शुरू कर दिया था और अपने लिए कई बंगले भी बनवा लिए थे। वह बीड़ी भी फूँकते जाता था और इस तरह हिसाब भी करते जाता था। सबेरे वह उठा, लोटा लेकर मैदान में गया, उसी तरफ से खेत भी चला गया। जाकर क्या देखता है कि रात को भैंसों ने आम की पचास कलमें खा डाली हैं। अब उसका दिमाग एकदम गरम हो गया। उसी हालत में घर वापस आया। घर आते ही लड़के से मुलाकात हुई जिसने फीस की मांग की। उसका दिमाग तो गरम था ही, कस कर एक तमाचा लड़के की गाल पर जड़ दिया, 'तेरा बाप कमाकर लाता है जो फीस देगा!' भूल गया कि खुद ही तो उसका बाप है। घर के अन्दर गया तो चाय में चीनी कुछ कम थी। बस चाय का कप उठाकर फेंक दिया, टेबल उलट दी। उसका दिमाग बेकाबू हो गया था। इसको कहते हैं कर्म के फल का हेतु बनना।

दूसरा माली भी सबेरे उठा। उठकर गया मैदान, उधर से बगीचे को देखने गया तो उसके बगीचे का भी वही हाल हुआ था। पचास कलमें खत्म कर डाली थीं भैंसों ने। वह तुरन्त घर वापस गया, और अपने बाल-बच्चों, भाई-भतीजों, सबको बुलाकर कहा कि पचास कलमें तो खत्म हो गयीं, अब जो बाकी हैं, उनकी रक्षा के लिए बाड़ा बना देना चाहिए। दिनभर परिश्रम कर उन

लोगों ने बाड़ा बना दिया तथा शाम होने तक काम समाप्त कर शांतिपूर्वक घर चले गये। इसे कहते हैं कर्मफल का हेतु न होना या कर्म से असंगता। दूसरे माली ने कर्म को तो नहीं छोड़ा था, लेकिन कर्म के फल का जो भोक्तापन था, उसे त्याग दिया था। पहला माली कर्म का कर्ता भी था और कर्म के फल का भोक्ता भी बना, लेकिन जो दूसरा माली था वह कर्म का कर्ता तो बना जरूर, लेकिन कर्म के फलों का भोक्ता नहीं बना। उसने आम के पौधे लगाये जरूर, लेकिन रात को लम्बी-चौड़ी योजनाएँ नहीं बनायीं। सिर्फ इतना ही सोचा कि सौ आम के पौधे लगाये हैं, बड़े होंगे तो बाल-बच्चे खायेंगे।

त्रिविध कर्म और कर्मफल

संसार में तीन प्रकार के कर्म, तीन प्रकार के कर्म-फल तथा तीन प्रकार के भोक्ता होते हैं। साधारण कर्म, सत्कर्म और कुकर्म – ये तीन प्रकार के कर्म हैं। कर्म के तीन फल होते हैं – इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित। जैसा चाहा, वैसा मिला, अच्छा बेटा चाहा, अच्छा बेटा मिला, अच्छी नौकरी चाही, अच्छी नौकरी मिली, मन के मुताबिक जो मिला उसे कहते हैं इष्ट फल। दूसरा होता है अनिष्ट फल, चाहा कुछ, मिला कुछ और। तीसरा फल होता है मिश्रित, याने मिला हुआ। हमने चाहा था कि लड़का लन्दन जाकर एक बार लौट आता, पर उसने भारत में ही वकालत कर ली, यह हुआ मिश्रित फल। इच्छा कुछ अंशों में पूरी हुई और कुछ में पूरी नहीं हुई। इस तरह तीन प्रकार के फल होते हैं।

वैसे ही तीन प्रकार के भोक्ता भी होते हैं। पहले होते हैं इच्छित फलों के भोक्ता। इनको कहते हैं सुखी लोग, क्योंकि इनकी सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। दूसरे होते हैं अनिष्ट फल के भोक्ता, जिनके जीवन में हमेशा अनिष्ट-ही-अनिष्ट होते रहता है। उनके बारे में कहा जाता है कि ये दु:खी हैं। तीसरे होते हैं वे लोग जिनको कभी मन मुताबिक चीज मिलती है, कभी नहीं मिलती। उनके बारे में कहते हैं कि खाते-पीते हैं, अच्छा घर है, ज्यादा सुखी-सम्पन्न नहीं हैं पर दु:खी भी नहीं हैं। औरत तो खैर बात मानती नहीं, मगर बेटा बड़ा लायक है, या आदमी बड़ा अच्छा है, सज्जन है, लायक है, पर शरीर से लाचार है, या आदमी बड़ा मेधावी है, बढ़िया काम करने वाला है, पर चाल-चलन ठीक नहीं है – ये हैं मिश्रित फलों के भोक्ता। दुनिया में ये तीन प्रकार के भोक्ता होते हैं।

सुख और दु:ख

इस विषय पर मेरी अपनी राय यह है कि संसार में आज तक कोई भी केवल सुख का भोक्ता नहीं हुआ, और न कोई केवल दु:ख का भोक्ता हुआ। संसार में जितने भी प्राणी हैं, जो समझदार हैं, जिनकी बुद्धि है, आप देखेंगे कि वे सुख और दु:ख, दोनों के बारी-बारी से भोक्ता होते हैं। ऐसा हो ही नहीं सकता कि मनुष्य की सब इच्छायें पूरी हों। उसी तरह यह भी नहीं हो सकता कि मनुष्य की सब इच्छायें अपूर्ण रहें।

मनुष्य के जीवन में दु:ख भी आता है और सुख भी, लेकिन उसके मन पर दु:ख का ही असर परिलक्षित होता है, सुख दब जाता है। अगर किसी के घर मे शादी हो और उसी दिन घर में किसी की मृत्यु हो जाए तो बाजा बजेगा या मातम मनाया जायेगा? स्पष्ट है कि मातम मनाया जाएगा। पूछा जा सकता है कि बाजा क्यों नहीं बजेगा, मातम ही क्यों मनाया जाएगा? यह नियम है कि मनुष्य के मन पर दु:ख का असर सुख की अपेक्षा अधिक पड़ता है, और सुख एवं दु:ख जब एक साथ आते हैं, तब दु:ख ही मनुष्य पर अधिकार जमाता है, सुख समाप्त हो जाता है। सुख का अनुभव बहुत मृदुल रहता है, जबकि दु:ख का अनुभव बहुत तीव्र। दु:ख अगर थोड़ा ही होगा तो भी सारे सुख को चौपट कर देगा, लेकिन अधिक-से-अधिक सुख भी थोड़े से दु:ख को दबा नहीं सकता। यही संसार की रीति है।

इसके पीछे कारण यही है कि मनुष्य को सदा मृत्यु से, रोग से, पाप से, गरीबी से, निन्दा से, असुविधा से, बैरी से घृणा है। उसी प्रकार उसे सम्पत्ति से, सहानुभूति से, सुविधाओं से, मित्रों से प्रेम है। यह मनुष्य स्वभाव की विशेषता है। यही कारण है कि जब किसी वजह से उसकी इच्छित चीज का अभाव होता है, तब उसके मन पर बड़ा जबरदस्त असर होता है। गीता के कथनों से हम यह समझते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को संसार में कर्म करते हुए अपने मन में एक ऐसी शक्ति का उपार्जन करना चाहिए जिससे उसके मन पर सुख और दु:ख, दोनों का असर पड़े ही नहीं। सुख और दु:ख, दोनों का मनुष्य साक्षी बन जाए। यह है तो कठिन, लेकिन एक-न-एक दिन सब लोगों को यही करना है।

मनोविज्ञान का कहना है कि जब मनुष्य के मन में कामना का जन्म होता है, तब अगर उस कामना की पूर्ति हो गई तो उसके मन में फिर दूसरी कामना जन्म लेती है। जो आदमी अपना जीवन सफल बनाता है वह कामनाओं को पूरा करते जाता है, क्योंकि उसकी कामनाओं के मार्ग में कोई भी रुकावट

नहीं है। स्वामी शिवानन्द जी कहा करते थे कि मुखतार वकील बनना चाहता है, वकील उच्च न्यायालय का वकील बनना चाहता है, वह वकील न्यायाधीश बनना चाहता है, न्यायाधीश मुख्य न्यायाधीश बनना चाहता है, मुख्य न्यायाधीश राज्यपाल बनना चाहता है। इन इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। जब तक इच्छा करते जाएँ और कोई दुर्घटना न हो तो इच्छाएँ सुरसा की तरह मुँह बढ़ाती जाएँगी। अगर कहीं शुरू में ही रुकावट आ गई, तब वह आदमी अन्धविश्वासी और शक्की हो जाता है। अगर दूसरी बार प्रयत्न करे और फिर फेल हो जाए तो सोचता है कि कोई देवता मेरे खिलाफ हैं। उसके बाद अगर फिर सफलता मिली, तो कहेगा कि भगवान का दर्शन किया था, इसलिए सफलता मिली। दुबारा सफलता मिली तो कहेगा, 'अब की बार दायीं आँख फड़की थी।' अगली बार फिर सफलता मिली तो कहेगा, 'इस बार स्वामीजी का दर्शन किया था इसलिए सफलता मिली।'

मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य अगर लगातार सफल होता जाए तो वह अपनी इच्छाओं से अभिभूत हो जाता है। वह उन इच्छाओं से इतना दब जाता है कि उसका मन-मस्तिष्क कमजोर पड़ने लगता है। इच्छायें करते-करते तथा उन इच्छाओं की पूर्ति होते-होते इन्सान का दिमाग और शरीर थक जाता है, और जब उसका दिमाग काम नहीं करता तो रोग हो जाता है।

दूसरा आदमी ऐसा है जो कुछ दिन तक तो सफल रहा और बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनायीं। जो उसने सोचा वह होता गया। इस तरह से वह अपना मुँह

बढ़ाता गया सुरसा की तरह, पर एक दिन सब ठप्प हो गया। अब वह अस्पताल में भरती है। क्या हुआ? दिल का दौरा पड़ा। किसी के दिल पर चोट लगती है, तो किसी का दिमाग घूम जाता है। किसी को भूत दिखाई देता है तो किसी को देवी लग जाती है। असल में कमजोर दिमाग पर असर पड़ने से न्यूरोसिस, मधुमेह और उच्च रक्तचाप जैसी कई प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं। मनुष्य अगर गलत महत्त्वाकांक्षा रखता है तो उसका दिमाग बिल्कुल बिगड़ सकता है। बच्चे इच्छा करते हैं कि हम फर्स्ट-क्लास में पास होंगे। अगर फर्स्ट-क्लास न मिले तो बच्चे के दिमाग पर बड़ा असर पड़ता है। इसी तरह लड़कियाँ जब शादी करती हैं तो सोचती हैं कि पति अच्छा होगा, मुझे बहुत मानेगा, खूब रुपया-पैसा देगा, बहुत प्रेम करेगा। ऐसी महत्त्वाकांक्षा प्राय: लड़कियों के मन में बनी रहती है, लेकिन ऐसा होता नहीं है। यह भगवान का कानून है, कुछ-न-कुछ बिगड़ता ही रहता है और जब बिगड़ता है तभी चाबी ठीक रहती है।

मन की मजबूती

अब यह लड़की जो महत्त्वाकांक्षा करती है, हवाई किले बनाती है, उसके भविष्य का क्या होता है? सपने बनाने से संस्कार बनते हैं, संस्कारों से दु:ख-ताप होता है, यह मन का स्वभाव है। अगर दिमाग मजबूत होगा तब तो ठीक है, सब सहन कर लेगा, लेकिन अगर दिमाग कमजोर रहा तो फिर वह बिगड़ जाता है, आदमी पागल हो जाता है। उसे कुछ-का-कुछ दिखलाई पड़ता है, कई प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं। सारी मनोवैज्ञानिक बीमारियाँ यहीं से शुरू होती हैं। मनुष्य जब जरूरत से ज्यादा इच्छायें बना लेता है और वे पूर्ण नहीं होतीं तब कमजोर दिमाग वालों पर बीमारियों का अधिकार हो जाता है। गीता कहती है कि तुम्हारी हर महत्त्वाकांक्षा पूरी नहीं होगी। अभी तक जो कुछ तुम्हें मिला है उसी से सन्तुष्ट रहो।

एक महाशय थे। वे बाजार जा रहे थे। जूते फटे-पुराने थे, पैर कट गया। बुरा तो लग रहा था, लेकिन जूता पहनना ही पड़ा, क्योंकि उनके पास और तो कोई जूता नहीं था। आगे बढ़ने पर देखा एक आदमी खिसक-खिसक कर चल रहा था। महाशय ने सोचा, 'हे भगवान! इस आदमी को तो आपने पैर ही नहीं दिये हैं, मुझे कम-से-कम पैर तो दिये।' उसका हृदय करुणा से भर गया। महर्षि अरविन्द ने लिखा है, 'जो मनुष्य अनागत से परेशान, वर्तमान से असन्तुष्ट तथा भूतकाल के प्रति जिसके मन में पश्चात्ताप रहता है, ऐसे

मनुष्य का नाम है नास्तिक।' ऐसे लोग भगवान की पूजा करते हैं, मन्दिर भी जाते हैं, तीर्थयात्रा भी करते हैं, मगर भगवान को मानते हुये भी ऐसे मनुष्य नास्तिक हैं। वे अगर मानते हैं कि भगवान है, तब फिर अनागत के लिए यह परेशानी क्यों? ऐसे नास्तिक हमेशा यही सोचते रहते हैं कि कल क्या होगा, कल क्या होगा? अरे! जब आप मानते हैं कि भगवान है तो यह कल की चिन्ता क्यों? इसी तरह वर्तमान से असन्तोष क्यों? अगर भगवान ने बीमारी दी है, तो अक्ल भी तो दी है न?

यदि आप डॉक्टर से अपने मनमुताबिक दवाई माँगेंगे तो क्या वह देगा? आप जहर मागेंगे तो क्या वह जहर दे देगा? कभी नहीं देगा। जो आवश्यक दवाई होगी, वही देगा। बच्चा अगर अपना हाथ आग में डालना चाहे तो क्या माँ उसे ऐसा करने देगी? हरगिज नहीं। उसी तरह भगवान मनुष्य की कुछ इच्छाओं को पूरा करते हैं, कुछ को नहीं करते। भगवान ने तुम्हें घर दिया है, बाल-बच्चे दिये, सुख-सम्पत्ति दी, फिर अगर बाप मर गया तो क्या हुआ? और तो सब कुछ दिया है न? भगवान ने जब ऐसा दिमाग दिया फिर भी दु:खी क्यों? दु:ख अपनी गलतियों से होता है। भगवान किसी को भी दु:ख या सुख नहीं देते। कोई कहता है, बेटा बड़ा ही अच्छा है, केवल एक गलती है उसमें कि वह अपनी मर्जी से चलता है। दूसरा कहता है, पत्नी बहुत अच्छी है, सुन्दर है, पढ़ी-लिखी है, बड़ी विद्वान् है, केवल एक गलती है कि वह अपने विचार पर चलती है। जो जीवन से सन्तुष्ट नहीं होते वही संसार में दु:खी, बीमार और पागल होते हैं।

संसार में रहकर कर्म करने में कोई दोष नहीं है। मनुष्य को स्वधर्म का पालन करना चाहिए। कोई व्यक्ति एक छोटे-से मकान में रहता है। अब उसके पास पैसे आते हैं जिससे वह बड़ा घर ले लेता है और छोटे घर को छोड़ देता है। यह हुआ स्वधर्म। आप कार्य करते जाओ, कर्म का अच्छा फल मिले या न मिले, लेकिन मन को मजबूत बनाओ जिससे उस पर किसी तरह का असर न पड़े, उसे कोई तोड़ न सके। कई विद्यार्थी ऐसे होते हैं कि अगर मनचाहे नम्बर नहीं मिलते तो उनके मन पर इतना असर होता है कि वे आत्महत्या तक कर लेते हैं। पत्नी के कलहप्रिय होने के कारण कई पति अपना जीवननाश कर लेते हैं। सब कुछ करो, लेकिन मन पर उसका असर न पड़े। मन को मजबूत बनाओ, उस बरसाती कोट की तरह जिसे बरसात में पहनते हैं और बाद में उतार कर रख देते हैं तो उस पर पानी की एक बूंद भी नहीं रहती। उसी तरह दु:ख रूपी

बूंद भी मनुष्य के जीवन में नहीं रहनी चाहिए। कमल के पत्ते की तरह पानी में रहकर भी पानी से प्रभावित नहीं होना चाहिए। संसार में रहना चाहिए जब तक आसक्ति, मोह तथा प्रारब्ध है। जब तक संसार में रहोगे तब तक चूड़ियाँ बजेंगी ही। यह सब चलता रहेगा। खूब कर्म करो, पर मन पर संस्कार नहीं बनना चाहिए। गुस्सा आने पर भी मन पर असर न पड़े। छोटी-छोटी बातों का मन पर असर नहीं पड़ना चाहिए। जीवन में परिश्रम अधिक करो, सोचो कम और चिन्ता बिल्कुल मत करो। यही गीता के कर्मयोग का सार है।

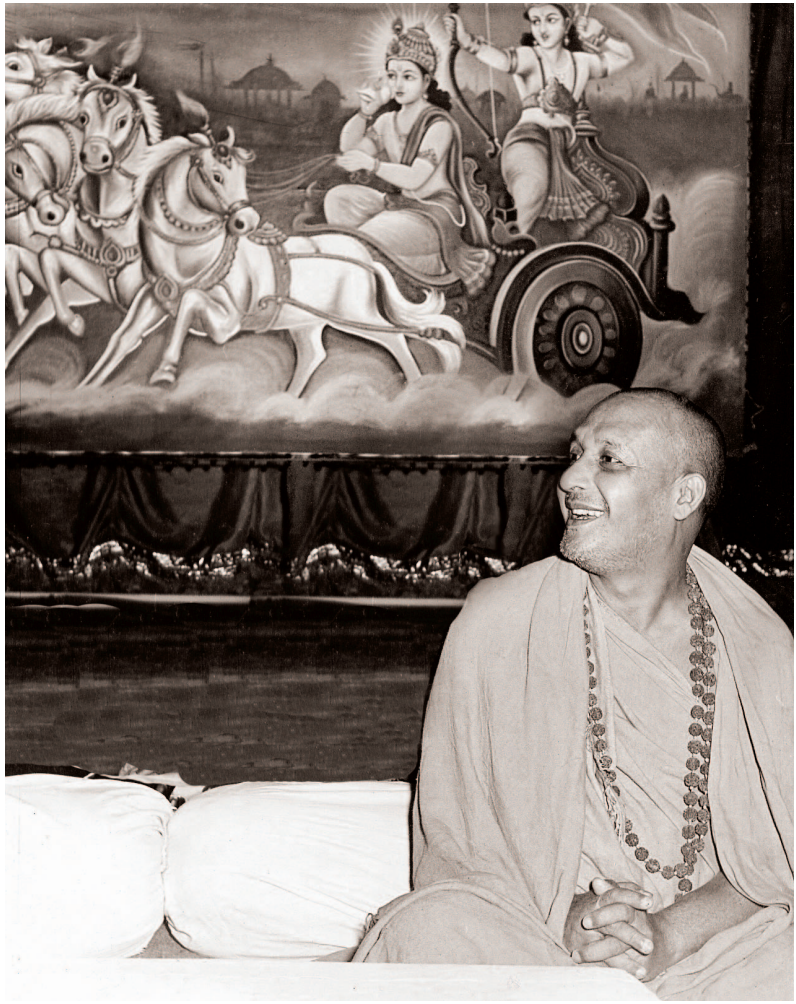

कर्मयोग और भक्तियोग का संयोग

सम्पूर्ण सृष्टि में बड़ा विरोधाभास है। यदि हम केवल अपने परिवार या समाज के लिए दिन-रात खटते हैं तो कहा जाता है – 'आये थे हरि भजन को, ओटन लगे कपास' और यदि हम उदार दृष्टिकोण रखते हुए अधिकतम समय भक्ति में लगाते हैं तो कर्तव्यच्युत और पलायनवादी कहे जाते हैं। इसलिए आज मैं इन दोनों की विवेचना करूँगा जिससे आपको सामंजस्यपूर्ण दिशा-निर्देश प्राप्त हो सके।

कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग या ज्ञानयोग – सभी का लक्ष्य अपने अन्दर छिपी हुई शक्ति को जाग्रत करना है। किसी को कर्मयोग, किसी को भक्तियोग, किसी को राजयोग और किसी को ज्ञानयोग उपयुक्त लगता है। सबके लिए सभी योग उपयुक्त नहीं होते। बहुत-से ऐसे लोग हैं जिनको कर्मयोग के अलावा दूसरा कोई योग बिल्कुल ही नहीं जमता। वे लोग कर्मयोग करते हैं तो नींद, भोजन, वासना, कामना सब भूल जाते हैं। उनको फिर भक्तियोग या राजयोग या ज्ञानयोग की जरूरत नहीं पड़ती। हमने कितने ही लोगों को देखा है कि जिस समय वे शास्त्र का अध्ययन करते हैं, उस समय सब कुछ भूल जाते हैं, उन्हें दुनिया का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। इसका मतलब है कि उनके लिए ज्ञानयोग उपयुक्त है। बहुत-से लोग आँखें बन्द करके ध्यान में बैठते हैं और सब कुछ भूल जाते हैं, अपने आपको भी।

सब योगों में कर्मयोग सबसे श्रेष्ठ है और सबसे सरल भी है। भक्तियोग सबसे कठिन है। यद्यपि पुस्तकों में लिखा है कि भक्तियोग बहुत सरल है, किन्तु अगर विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि भक्तियोग बहुत कठिन है। भक्ति का मतलब केवल पूजा-पाठ नहीं होता, भक्ति का मतलब होता है किसी महान् शक्ति के प्रति अनुरक्ति। जिस प्रकार तुम अपने बच्चे को प्यार करते हो या संसार की चीजों से प्रेम करते हो और तुम्हारा दिल उनमें दिन-रात लगा रहता है, ठीक उसी प्रकार भगवान के प्रति जो भावना होती है, उसे 'भक्ति' कहते हैं।

तुम मंदिर जाते हो, अगरबत्ती जलाते हो या आरती करते हो, यह सब एक लौकिक विधि है। यद्यपि ऐसा नहीं कह सकते कि यह महत्त्वहीन है, पर तुम एक-दो घंटे पूजा-पाठ में बैठ जाओ और सोचो कि हमने तो भक्ति कर ली, यह समझना ठीक नहीं है। सबेरे एक-दो घंटे पूजा-पाठ में बैठने से मन शांत

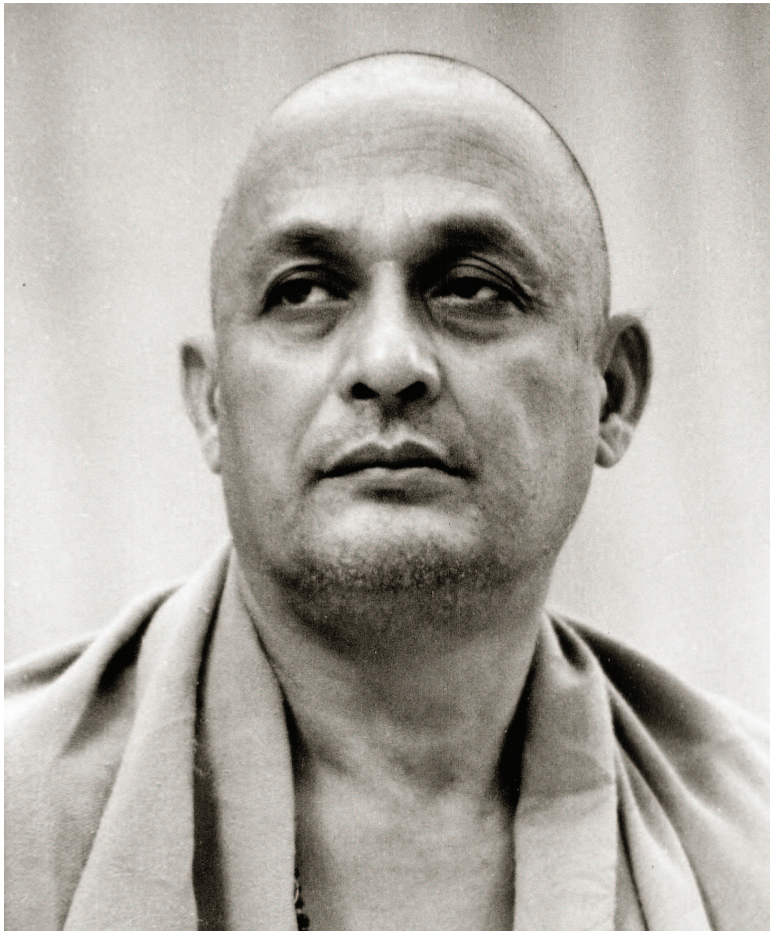

होता है तथा शरीर को भी आराम मिलता है, इसका अपना अलग महत्त्व है यह हम मानते हैं, पर यही भक्ति नहीं है।

जब दिल किसी महान् शक्ति के प्रति आसक्त हो जाता है तो भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। शुरू में यह प्रेम इसलिये आता है कि इसके बारे में बहुत सुना हुआ है, बहुत ज्यादा ब्रेन-वाशिंग हुआ है, रामायण, गीता और भागवत में पढ़ा है। भक्ति एक तरह से मन का प्रशिक्षण हो गया, लेकिन यह वास्तविक भक्ति नहीं है। भक्ति बुद्धि की अवस्था नहीं है, भक्ति तो भावना है। वह कैसे उत्पन्न होती है? मान लो, तुम्हारे पास एक एकड़ जमीन है। यदि उसमें से एक कट्ठा जमीन किसी ने हड़प ली तो दिन-रात यही विचार दिमाग में रहता

है। मान लो, एक धनी लड़का है, उसका एक गरीब लड़की से प्रेम हो गया या लड़की दूसरी जाति की है और शादी नहीं हो पा रही है अथवा उसके माँ-बाप ने उसको कष्ट दिया और तुम्हारे माँ-बाप से तुमको कष्ट दिया। तब मन में हमेशा वही विचार रहते हैं। जब मन की ठीक यही अवस्था भगवान के प्रति रहती है तब उसको कहते हैं भक्ति।

यह अवस्था सिखाई नहीं जा सकती। जैसे तुम एक भिखारी को मंच पर लाकर राजा बना देते हो तो वह राजा का अभिनय करता है, वैसे ही मनुष्य की बुद्धि को बचपन से रामायण-गीता सुना-सुनाकर इतना प्रशिक्षण दिया है कि वह भक्ति का स्वांग रचता है। हम सब लोग लोफर हैं और यह सब भक्ति का स्वांग है, इसमें बुरा मानने की जरूरत नहीं। यह एक तरह से आवश्यक भी है, इससे कम-से-कम मन का अनुशासन तो रहेगा, लेकिन भक्ति का जो पुरस्कार मनुष्य को मिलता है, वह है उसकी चेतना का जागरण। जिस क्षण मनुष्य के हृदय में सच्ची भक्ति फूट पड़ती है, उस समय सारे संसार का अर्थ उसके लिए बदल जाता है, सुख-दुःख का अर्थ बदल जाता है, जन्म-मरण का अर्थ बदल जाता है, सब चीजें दूसरी तरह से दिखने लगती हैं। खैर, ऐसी भक्ति तो किसी बिरले को ही मिलती है।

अब रह गई पूजा-पाठ वाली भक्ति। इस कर्मकाण्ड वाली भक्ति और कर्मयोग में विरोधाभास नहीं है। कर्मयोग का मतलब होता है कि तुम दुनिया में जो काम करते हो, उसको मन लगाकर करो, किन्तु उस कर्म से प्राप्त होने

वाले फल का तुम्हारे मन पर जो असर होता है, उसे मत होने दो। इसी को कर्मयोग कहते हैं। जो अज्ञान से प्रेरित होकर किया जाता है, भ्रमवश किया जाता है, इन्द्रियों द्वारा जो चेष्टा की जाती है, उसको कर्म कहते हैं। इस कर्म से फल पैदा होता है और फल के परिणामस्वरूप तुमको फिर कर्म करना होगा। कर्म करने से जो फल या परिणाम होता है, उसका अपने मन पर असर नहीं पड़े, यही कर्मयोग है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो आसक्ति से जो काम करते हो, वह हुआ कर्म और अनासक्ति से जो काम करते हो, वह हुआ कर्म योग।

एक साधारण-सा उदाहरण है। आपके घर में एक नौकरानी रहती है। वह आपसे ज्यादा घर का काम करती है। जब उसके घर से तार आता है कि उसका बच्चा बीमार है तो वह बहुत ही हड़बड़ा जाती है और रातों-रात चली जाती है। तब वह आपके घर का कामकाज नहीं करती, उसका काम से कोई मतलब नहीं रहता। फिर वह अपने घर में ही रह जाती है। इस बीच जब आपका बच्चा बीमार पड़ता है तो आपके यहाँ से तार जाता है कि बच्चा बीमार है, तुम जल्दी आ जाओ। वह आती जरूर है, मगर उसकी भावना में अंतर है, क्योंकि वहाँ अपने बच्चे के साथ उसकी ममता जुड़ी है, उसकी आसक्ति है और आपके बच्चे के साथ कर्तव्य भावना जुड़ी है। जहाँ कर्तव्य भावना होती है, वहाँ हो जाता है कर्म योग, और जहाँ आसक्ति होती है, वहाँ हो जाता है कर्म।

जब हम दुनिया में कर्म करते हैं, तब मन में कई प्रकार के तनाव पैदा होते हैं, चिन्ता होती है, घबराहट होती है, कभी अहंकार होता है और कभी खुशी होती है। कर्म का यह परिणाम हम सभी लोगों के साथ होता है। ऐसी अवस्था में हम लोगों के मन पर आघात होते हैं। किसी को रक्तचाप, हृदयाघात, मधुमेह या अन्य बीमारियाँ हो जाती हैं। कर्म करते-करते शरीर और मन पर जो चोट पहुँचती है, उससे आदमी को पागलपन से लेकर कैंसर तक कोई भी बीमारी हो सकती है। इस अवस्था को संतुलित करने हेतु एक-दो घंटे भजन करने के लिए कहा जाता है। इस समय तुम जो पूजा-पाठ करते हो या मंदिर में जाते हो या गीता, रामायण या भागवत पढ़ते हो, उसका यही प्रयोजन है कि कर्म फल का मन पर कोई प्रभाव न हो।

कर्म के साथ भक्ति का कोई विरोधाभास नहीं है। विरोधाभास तो तब होता है, जब हम लोग भक्ति या कर्म में से किसी एक को बहुत अधिक प्रधानता देते हैं। इसलिए आपको अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों का निर्वाह करते हुए कुछ समय भक्ति के लिए भी देना चाहिए।

आसक्ति के बिना कर्म कैसे संभव है?

यहाँ आश्रम में जो स्वामी रहते हैं वे खूब काम करते हैं। दस-बारह साल यहाँ रहते हैं और जिस दिन इनको जाने का मन करता है, चले जाते हैं। कोई दिक्कत नहीं होती, ये नहीं सोचते कि खेत से सब्जी कौन तोड़ेगा, बाजार कौन जाएगा, रोटी-दाल कौन बनाएगा, कमरे में ताला कौन लगायेगा? कुछ नहीं सोचते क्योंकि इन्होंने अपने अंदर संसार के कर्मों के साथ ममता नहीं जोड़ी है। ममता और मोह, ये दो चीजें मनुष्य को बांधकर रखती हैं।

ममता मान्यता है। जिसे भी तुम अपना मान लो वह तुम्हारा हो गया, लेकिन वास्तव में देखा जाय तो किसी का कुछ भी नहीं है। करोड़पति करोड़ों के सम्पत्ति छोड़कर चला जाता है, साथ में तो कुछ ले जाता नहीं। आसक्ति के बिना कैसे कर्म करना है और कैसे अपनी जिम्मेवारी को निभाना है, इसके लिए मानसिक प्रशिक्षण होना चाहिए और दूसरी चीज, परिवार का वातावरण भी थोड़ा अलग होना चाहिए। परिवार में माता-पिता व अन्य सब लोगों को

एक साथ रखने के लिए एक बंधन का निर्माण करते हैं और उस बंधन का नाम है 'ममता।' यह ममता का बंधन कुछ होशियार लोगों ने बनाया है जिससे लोग एक परिवार का, एक समाज का निर्माण कर सकें और कोई उसमें से बाहर नहीं निकले। यह एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक दबाव है, ब्लैकमेलिंग है जो कोई जानता नहीं है और इसी से मनुष्य के क्रियात्मकता और सृजनात्मकता में बाधा आती है।

कोई भी व्यक्ति सृजनात्मक हो सकता है, जिन्दगी में खतरे मोल ले सकता है, बड़े-बड़े व्यापार और उद्योग कर सकता है, बड़े-बड़े ग्रंथ लिख सकता है, मगर वह मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक दबाव के चपेट में है, बंधन को छोड़ ही नहीं सकता है। कैसे छोड़ेगा? इससे उसका दिमाग विभाजित हो जाता है। माँ है, भाई है, पिता है, गाय है, गुरु है और फिर मेरे को बहुत बड़ा भी बनना है। यह सब एक साथ तो हो नहीं सकता है। हँसना और गाल फुलाना एक साथ नहीं होता है। मनुष्य को आसक्ति रहित होने का प्रयास तो करना ही चाहिए, पर यह हो कैसे?

हर व्यक्ति जीवन में तीन चीजें चाहता है – श्री, विजय और विभूति। स्त्री अच्छे स्वभाव की है, पुत्र अच्छे स्वभाव का है, मकान अच्छा है, बीमारियाँ बहुत कम हैं, पढ़ाई-लिखाई ठीक चल रही है – इसको कहते हैं कि इनके घर में श्री या लक्ष्मी विराजती हैं। इसका मतलब केवल पैसा नहीं है, सब चीजें बिल्कुल ठीक हैं। जहाँ दरिद्रता नहीं है, वहाँ श्री है। जहाँ श्री है वहाँ दरिद्रता नहीं है। दरिद्रता कई प्रकार की होती है – पैसे की दरिद्रता, घर में खाने-पीने का कुछ नहीं है, यह दरिद्रता है। दिमाग में अच्छे विचार नहीं आते हैं, वह भी दरिद्रता है। कुछ ज्ञान नहीं है, न धर्म का ज्ञान है, न शास्त्रों का ज्ञान है, न नैतिकता का ज्ञान है, यह भी दरिद्रता है। दरिद्रता केवल पैसे की नहीं होती। हमारे यहाँ प्राचीन काल से लेकर आज तक आठ प्रकार की दरिद्रता बतलाई गयी है, 'अष्टदरिद्र।' आठ प्रकार की दरिद्रता जब दूर हो जाती है तो उसको कहते हैं श्री।

विजय माने सफलता। कॉलेज में पढ़ते हो तो पास होना चाहते हो। नौकरी करते हो तो नौकरी में प्रमोशन मिलता जाता है या कोई व्यापार करते हो तो पैसा आता है – उसे कहते हैं विजय। विभूति का मतलब होता है प्रशंसा। पड़ोस के लोग आपको अच्छा बोलें। कोई तुम्हारी निन्दा न करे, तुम्हारी लड़की के बारे में बोले कि वह बहुत अच्छी लड़की है। वह

लड़का बहुत अच्छा है। उसके घर के लोग बहुत अच्छे हैं। इसको कहते हैं विभूति। श्री, विजय और विभूति – ये तीन चीजें प्रत्येक आदमी चाहता है। इनको प्राप्त करने के लिए उसको जिस प्रकार से कर्म करना चाहिए उस प्रकार वह करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को श्रीकृष्ण ने अनासक्तिपूर्वक कर्मयोग करने का उपदेश दिया है। आसक्ति एक मिथ्या बंधन है। इसका साधारण-सा उदाहरण ले लो। हमारे घर में एक नौकरानी है, बीस साल से काम कर रही है। उसने मेरी सेवा की, मैं जब भी बिमार हुआ वह रात-रात भर जागी। माँ की, पिता की, सबकी ईमानदारी के साथ सेवा की, इसको कहते हैं कर्मयोग। उसको पैसा मिला, वह बात अपनी जगह है। जितना पैसा हम उसको देते हैं वह उसके बराबर थोड़े ही काम करती है, वह तो उससे बहुत ज्यादा काम करती है। ईमानदारी कभी पैसे से नहीं चुकायी जा सकती। मगर जब उसको एक तार मिलता है कि उसका बेटा या उसका पति बीमार है तो उसको रातभर नींद नहीं आती है। वह चिन्ता से परेशान हो जाती है जबकि वह साल में एक बार घर जाती है। इसको कहते हैं आसक्ति।

आसक्ति का विषयों के साथ कोई सम्बंध नहीं है। यह एक मान्यता है जिसको आप किसी भी व्यक्ति के लिए, किसी भी वस्तु के लिए बना सकते हैं। मान लीजिए, हमारे घर कोई मर गया तो वह नौकरानी रोती है, मगर उसके स्वंय के घर के बारे में दुःखी होना, इन दोनों दुःखों में अन्तर है। एक दुःख स्वाभाविक होता है और एक दुःख अस्वाभाविक। लड़की विदा हो रही है, स्वाभाविक है दुःख का होना। अठारह-बीस साल तुम्हारे पास रही, अब जा रही है। परन्तु अब लड़की चली गई और तुम उसके लिए चिन्तित हो जाओ, तुम्हें ब्लडप्रेशर हो जाय या तुमको भूख कम लगे, इसका मतलब है कि तुम कर्म के बंधन में आसक्त हो।

आसक्ति रहित कर्म वही व्यक्ति कर सकता है जो पूरे उत्तरदायित्व को ग्रहण कर सकता है। पहला उदाहरण मैंने आपको अपने आश्रम के लोगों का दिया। मैं तो कोई काम करता नहीं, पैसे से लेकर सारा काम आश्रम के संन्यासी लोग ही करते हैं और पूरे उत्तरदायित्व के साथ करते हैं। जितनी इन लोगों की लियाकत हैं करते हैं। स्वामी गोरखनाथ को आज बोल दो कि तुमको कल बाहर जाना है तो झोला लेकर कल सबेरे चला जाएगा। यह भी नहीं सोचेगा कि क्लास कौन लेगा। यह होती है अनासक्ति। इसके लिए परिवार में बड़े

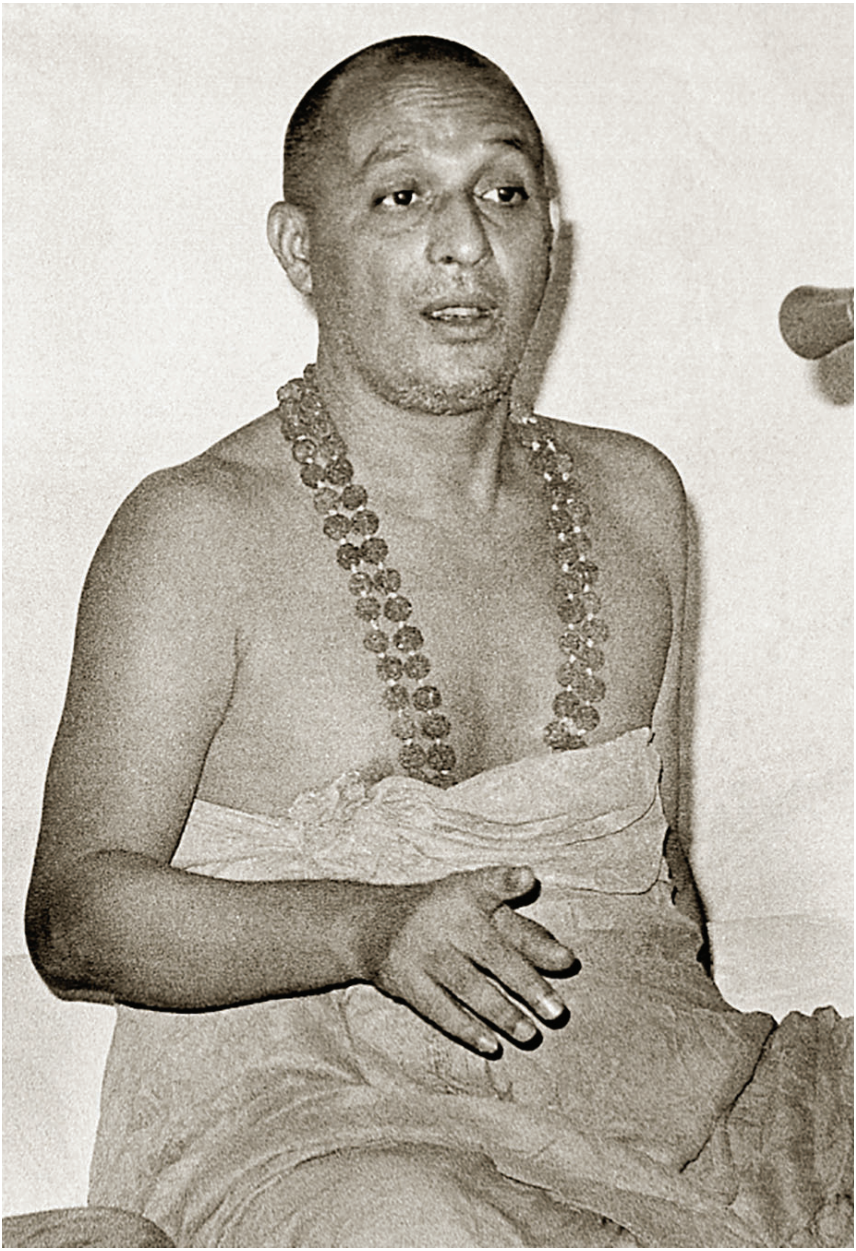

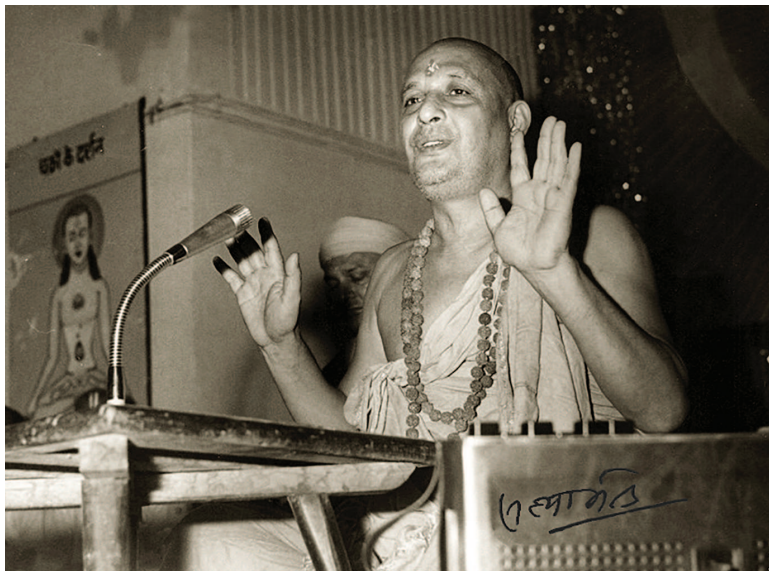

लोगों को समझना चाहिए कि अपने बच्चों को किस प्रकार जिम्मेदार बनाया जाय और किस प्रकार उनको अनासक्ति का प्रशिक्षण दिया जाय।

योग वाशिष्ठ में लिखा है कि चौदह साल बाद भगवान राम जब गुरुकुल से वापस लौटे तो बड़े वैरागी हो गये। सुबह उठते नहीं थे, एकान्त में पड़े रहते थे, लगता था विषाद में हैं। राजा दशरथ को पता चला तो उन्होंने पूछा, 'राम! तुमको क्या हो गया? तुम अपने नित्य कर्म नहीं करते हो, मित्रों से नहीं मिलते हो, खेलते-कूदते नहीं हो, कुछ नहीं करते हो और न सभा में भाग लेते हो।' तब रामजी बोले, 'मैं ये सब क्यों करूँ? संसार तो असत्य है।' वैराग्य और ज्ञान की बातें तो हिन्दुस्तान में होती ही हैं। दशरथ जी घबरा गये, बुढ़ापे में मेरा बेटा हुआ और वह भी छोटी उम्र में वैरागी हो गया। यह तो अस्वाभाविक था। उन्होंने ऋषि वशिष्ठ को बुलाया और ऋषि वशिष्ठ तथा राम के बीच जो संवाद हुआ वही योग वाशिष्ठ ग्रंथ है।

राम बार-बार कहते हैं, 'कर्म करने से क्या फायदा, क्योंकि कर्म का तो अंत में नाश हो ही जाता है। कर्म से जो फल मिलता है एक दिन वह भी समाप्त हो ही जाता है। आदमी पहले से ही क्यों नहीं आत्मज्ञान का प्रयत्न करे, कर्म के जाल में फँसे ही क्यों? पहले तुम फँसो कर्म के जाल में और बाद में मेरे से कहो कि इसको काटो। नहीं! मैं कर्म जाल में फँसता ही नहीं।'

योग वाशिष्ठ में वशिष्ठ जी ने राम को जो उपदेश दिया है वह यही कि तुमको धर्म और नीति को सामने रखकर कर्म करना चाहिए। जिस कर्म को करने से बहुत लोगों की भलाई होती है और बहुत लोगों को सुख मिलता हो उस काम को पहले करो, क्योंकि अनासक्ति के साथ जब तुम कर्म करने लगोगे तो जीवन के आधारभूत मूल्य भी कभी-कभी गलती से खत्म हो जाते हैं। तुम धर्म और नीति को भी छोड़ देते हो, बहुत जनों की भलाई और बहुत लोगों के सुख दोनों को भी भूल जाते हो। इस तरह कभी-कभी अनासक्ति में स्वार्थ आ जाता है। उस स्वार्थ को दूर करने के लिए परोपकारी कर्म करो मगर उस कर्म से तुम्हारा जो लगाव है, ममता है वह हट जाना चाहिए।

अर्जुन ने श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण से ऐसा ही प्रश्न पूछा था – 'कभी तुम कहते हो कर्म करो और कभी कहते हो मत करो, मुझे तो समझ में आता नहीं है। स्पष्ट बतलाओ मैं क्या करूँ?'

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥3.2॥

श्रीकृष्ण ने कहा, 'काम छोड़ने से तो कुछ मिलेगा नहीं, क्योंकि जब तक तुम्हारे मन में इच्छाएँ हैं, वासनाएँ हैं, संसार की वस्तुओं के प्रति लोभ की प्रवृत्ति है, तब तक तुम कर्म करो।' मगर उस कर्म के प्रति दृष्टिकोण क्या होना चाहिए, उसकी पृष्ठभूमि क्या होनी चाहिए, उसका उद्देश्य क्या होना चाहिए? एक बढ़ई को, एक किसान को, एक गृहस्थ को, एक अधिकारी को, एक संन्यासी को, एक उद्योगपति को क्या कर्म करना चाहिए? कर्म का प्रयोजन क्या है?

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम॥

दो रोटी तो कहीं भी मिल जाती है तो क्यों करते हो कर्म? कर्म का एक दर्शन है और वह बड़ा ही गूढ़ दर्शन है। प्रकृति या सृष्टि में एक बहुत बड़ी शक्ति है। उस प्रकृति के द्वारा मनुष्य के विकास के लिए कर्म का निर्माण किया गया है और कर्म रहित व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, चाहे वह संन्यासी हो, चाहे वैरागी हो, चाहे आलसी हो, चाहे कोई भी हो।

जीवनमुक्ति और कर्म

गीता, भागवत एवं योगवाशिष्ठ आदि उत्कृष्ट भारतीय ग्रंथों में कर्म के विषय में बहुत अच्छी तरह से समझाया गया है। कर्म करने से फल प्राप्त होता है तथा कर्म करने के पूर्व मन में फलासिक्त की इच्छा होती है, इस बात को सभी लोग जानते हैं। बिना आकांक्षा, बिना इच्छा के कोई भी कर्म नहीं होता। कर्म करोगे तो उसका परिणाम भी निश्चित रूप से होता है। अब कठिनाई यह है कि बिना इच्छा के कर्म किया कैसे जाये? उस किये हुए कर्म के परिणाम से कैसे मुक्त रहा जाये? अगर ये दो चीजें हमारी समझ में आ जायें तो हम लोग जीवन की अनन्त विषमताओं और समस्याओं में घिरे रहकर भी जीवनमुक्त बन सकते हैं। संसार में रहकर भी संसार की विषमताओं से मुक्त रहने को कहते हैं जीवनमुक्ति। कमल का पत्ता जल में रहकर भी जल के प्रभाव से मुक्त रहता है, उसके ऊपर जल टिकता नहीं। वैसे ही जीवनमुक्ति पूर्णत्व की अवस्था है। इसे प्राप्त करना इतना सरल नहीं है कि हम देख-सुन कर इसका परिपालन कर सकें। यह अवस्था इतनी कठिन है कि जीवनभर परिश्रम करने के पश्चात्, ज्ञान-साधना करने के पश्चात् आती है। तब कहीं मनुष्य इच्छारहित

हो कर कर्म करता हुआ कर्म के परिणामों से मुक्त रह सकता है। जीवनमुक्ति की अवस्था साधकों के साधनामय जीवन की चरम परिणति है।

आसक्ति और अनासक्ति

हमारे शास्त्रों में 'गृहस्थ' और 'संन्यास' के जो भेद बताये गये हैं, ये कर्म के भेद नहीं हैं, ये कर्म की पद्धतियों के भेद हैं। गृहस्थ और संन्यासी के कर्म में भेद नहीं होता बल्कि गृहस्थ के कर्म करने की पद्धति और संन्यासी के कर्म करने की पद्धति में भेद होता है। एक गृहस्थ स्वयं द्वारा निर्मित कर्म के जाल में निशि-दिन उलझता रहता है, फंसता रहता है। चाहे वह जाल छोटा हो या बड़ा, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मगर वही काम अब संन्यस्त भाव से किया जाता है तब कर्म के बन्धन उस व्यक्ति को बाँध नहीं सकते। बस इतना सा अन्तर है दोनों की कर्म-पद्धतियों में।

उदाहरण के लिये तुम्हारे घर में एक नौकरानी रहती है। जब तुम्हारा बच्चा बीमार पड़ता है, वह रात-दिन उसकी सेवा करती है। वह बच्चे के स्वस्थ न होने तक रात-रात भर जागती है और जब बच्चा ठीक हो जाता है तो उसे बहुत खुशी भी होती है, लेकिन जब उसको एक दिन तार मिलता है कि गाँव में उसका बच्चा बीमार है तो वह व्याकुल हो जाती है, घबरा जाती है और तुरंत आपसे छुट्टी लेना चाहती है। आप उस समय उसको छुट्टी न देने के लिये कैसा भी भय दिखावें, वह मानेगी नहीं, जाएगी ही। चाहे आप उसे उसकी नौकरी से निकाल ही क्यों न दें।

अब उस नौकरानी के मन पर तुम्हारे बच्चे और अपने बच्चे की बीमारी का जो असर पड़ा, दोनों में अन्तर है। एक में घबराहट है जबकि दूसरे में स्थिरता। एक में वात्सल्य स्नेह है जबकि दूसरे में कर्तव्य की भावना। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपने बच्चे को बहुत अधिक मानती है और तुम्हारे बच्चे के प्रति उसके मन में प्यार नहीं है। सच तो यह है कि वह तुम्हारे बच्चे को भी जी-जान से प्यार करती है क्योंकि तुमने उसे बचपन से लगाकर रखा है। उसकी माँ भी तुम्हारे यहाँ काम करती थी। उसका भाई भी तुम्हारे यहाँ काम करता था। उसके सारे परिवार के लोग तुम्हारे यहाँ काम करते थे। तुम्हारे परिवार के साथ उसके परिवार का परस्पर प्रेम संबंध कायम हो गया है, हार्दिक लगाव हो गया है। वह एक प्रकार से तुम्हारे सुख-दु:ख की साथी बन गई है। मगर इसके बावजूद भी उसके अपने बच्चे की बीमारी का जो असर उसके

मन पर पड़ा, वह असर तुम्हारे बच्चे की बीमारी का नहीं पड़ सकता, कभी नहीं पड़ सकता। क्यों? इसलिये कि कर्तव्य भावना और ममता, इन दोनों में बहुत अन्तर है। इसी को आसक्ति और अनासक्ति कहते हैं।

संन्यास की परिभाषा

संन्यास के परिप्रेक्ष्य में अनासक्ति का मतलब कर्म का त्याग नहीं होता, बल्कि कर्म की पद्धति का त्याग होता है। गीता में तो इस विषय को बहुत अच्छी तरह समझाया गया है। एक जगह पर भगवान श्रीकृष्ण ने यहाँ तक कहा है कि –

अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य:।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय:॥6.1॥

अर्थात् जो व्यक्ति कर्मफल पर आश्रित न रहकर कर्म करता है, वही संन्यासी है, वही योगी है। तुम जो भी कर्म करते हो, फलाश्रित होकर ही तो करते हो न? कॉलेज में पढ़ते हो तो क्या सोचकर पढ़ते हो? यही कि पास हो जायें। व्यापार या दुकान करते हो तो क्यों करते हो? इसलिये कि मुनाफा होगा, परिवार का भरण-पोषण होगा। बाल-बच्चे होते हैं तो क्यों होते हैं? इसलिये कि वंशरक्षा हो, बुढ़ापे में सहारा मिले। संसार में जितने भी कर्म होते हैं, सब फलाश्रित हैं। फल की आशा को त्याग कर कोई भी व्यक्ति कर्म नहीं करता। जब कोई फल की आकांक्षा को त्यागकर कर्म करता है तो वह संन्यासी है। इस बात को हमेशा ख्याल में रखना चाहिये। यह परिपाटी हम लोगों के तमाम धर्मों में बतालाई गई है। इसको सफल करने के लिये यह समझना जरूरी है कि निष्काम कर्म कैसे किया जाये।

काम का मतलब होता है इच्छा। हम लोग जितने भी कर्म करते हैं, इच्छाओं से प्ररित होकर, इच्छाओं से दबकर करते हैं। मन में इच्छा होती है तब जाकर बाजार से समोसा, पकौड़ा या रसगुल्ला लाकर खाते हैं। इच्छा नहीं हुई तो कुछ नहीं। इच्छारहित कर्म को निष्काम कर्म कहते हैं और निष्काम कर्म ही कर्मयोग है। कर्मयोग और निष्काम कर्म, दोनों एक ही मतलब रखते हैं, परन्तु कर्म और कर्मयोग में अन्तर होता है। जिस कर्म के फल में तुम्हारी बुद्धि लिप्त है, जो कर्म इच्छा से प्रेरित होकर किये जाते हैं, उनको कहते हैं कर्म और उनके फलस्वरूप संस्कार तथा जन्म-मरण होता है। जो कर्म कामना-रहित होकर फल की आशा से मुक्त होकर किये जाते हैं उनको कहते हैं कर्मयोग।

उदाहरण के लिये थोड़ा-सा चना लो और उसको जमीन में बो दो। अब फिर थोड़ा चना लो और उसको भूनकर जमीन में बो दो। जो भूना हुआ चना है वह उपजेगा नहीं, मगर जो चना भुना हुआ नहीं है वह तो उपजेगा ही। इसी प्रकार जो कर्म कामना सहित किये जाते हैं, वे सुख-दु:ख के रूप में, हानि-लाभ के रूप में, जन्म-मरण के रूप में, सम्पत्ति-विपत्ति के रूप में, जरा, मृत्यु और अपमान के रूप में अपना फल देते ही हैं। जब उसी कर्म को दग्ध अवस्था अर्थात् कामना रहित अवस्था में किया जाता है तो उसका बीज उपजेगा नहीं। कर्म किया और खत्म, यह स्थिति संन्यास की स्थिति है।

संन्यास का मतलब पूजा-पाठ नहीं होता। कई लोग यहाँ आश्रम में संन्यास लेने के लिये आते हैं। बोलते हैं, 'स्वामीजी, घर-गृहस्थी में तो पूजा-पाठ के लिये समय नहीं मिलता। सोचते हैं कि संन्यास ले लें और पूजा-पाठ करते रहें।' हम कहते हैं, 'नहीं, यह गलत है। पूजा-पाठ तो गृहस्थाश्रम में किया जाता है। संन्यासाश्रम में तो केवल एक ही चीज करनी है – निष्काम कर्म।

ऐसा काम करो कि उसमें अपनी व्यक्तिगत इच्छा न रहे और उसके फल पर तुम निर्भर न रहो।'

गीता में लिखा है कि शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि या केवल भावना से ही तुम कर्म करो, पर यदि वह कर्म आसिक्त रहित हो और उसे आत्मशुद्धि के उद्देश्य से किया जाये तो वह तुम्हारे बन्धन का कारण नहीं बन सकता। इस कर्म को कहते हैं ब्रह्मकर्म। गीता में यही ब्रह्मकर्म शब्द आया है –

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥4.24॥

यह ब्रह्मकर्म है। आपने अंग्रेजी में 'ट्रान्सन्डेन्टल मेडिटेशन' शब्द सुना होगा। वैसा ही एक शब्द और है 'ट्रान्सन्डेन्टल एक्शन' जिसका मतलब होता है निष्काम कर्मयोग।

वैसे गृहस्थाश्रम में संर्घष नहीं है। यदि है तो उतना ही जितना एक कर्मठ संन्यासी के जीवन में। जो झोपड़ी में रहने वाले संन्यासी हैं उनके प्रति यह कहना कि 'अपने लिये दो रोटी सेंककर खा लिये और पड़े रहे, मन हुआ तो भजन किया' ठीक है, मगर जो संन्यासी गुरु के आदेशानुसार नित्य-निरन्तर कर्म में लगे रहते हैं, उनकी स्थिति और आपकी स्थिति में क्या अन्तर है, जरा सोचिये तो! हाँ, यह निश्चित है कि कर्म में कोई भेद नहीं है, मगर कहीं तो जरूर भेद होगा।

ज्ञान की भूमिका

यह संघर्ष क्यों होता है? हम लोगों को बचपन से ही कर्म का दर्शन नहीं बतलाया जाता। माँ-बाप का यह कहना कि 'तुमको इंजीनियर बनना है, दरोगा बनना है, डॉक्टर बनना है' बिल्कुल गलत है। गलत इसलिये है कि माँ-बाप को खुद उसका मतलब मालूम नहीं। वे यह नहीं समझते कि शादी तुम्हें क्यों करनी है। कहेंगे, 'तुम्हें शादी करनी है क्योंकि दूसरे लोग बोलते हैं।' अरे, यह भी कोई तरीका है! इस संदर्भ में यह आवश्यक है कि माता-पिता को स्वयं ज्ञानवान् होना चाहिये। अज्ञान और अविद्या की वजह से ही जीवन में संघर्ष आता है। हम लोगों के बोलने का, सोचने का, व्यवहार करने का, खाने-पीने का, दु:ख-सुख भोगने का, इष्ट मित्रों से प्रेम करने का या किसी से घृणा, बैर, बदला लेने का तरीका ठीक नहीं है। हम लोगों की दशा आज वैसी ही है जैसे

एक कुत्ते की होती है। कुत्ते को गुस्सा आ गया तो किसी पर झपट पड़ा और प्यार आया तो चाटने लगा, पूंछ हिलाने लगा।

हमारे मन के अन्दर भावनायें हैं जो अत्यन्त शक्तिशाली हैं। संघर्ष से मुक्ति पाने हेतु यह आवश्यक है कि इन भावनाओं को ठीक जगह पर फिट किया जाये। ये भावनायें जब उचित दिशा और उचित स्थान प्राप्त नहीं करतीं, तब ये संघर्ष के रूप में जन्म लेती हैं। अनेक लोग व्यर्थ चिन्तन करते हैं। जरा सोचिये, पिछले बीस-पच्चीस साल के जीवन में आपने दिन के समय या स्कूल-कॉलेज जाते समय जो कुछ सोचा है, अगर आप वह सब नहीं सोचते तो क्या होता? क्या काम बिगड़ जाता, क्या गृहस्थी चौपट हो जाती? क्यों सोचते हुए जीवन जिया? यह व्यर्थ चिन्ता जो जीवन में आई उसमें से तीन-चौथाई भाग को फेंक दिया जा सकता है। इतने सारे विचार जीवन के लिये आवश्यक नहीं हैं। मगर व्यर्थ चिंतन को छोड़ने का तरीका क्या है ?

मनुष्य का जीवन एक निश्चित गति से जा रहा है और प्रत्येक व्यक्ति का जीवन, उसका कर्म, उसका जन्म-मरण, उसका सुख-दु:ख, उसका पुत्र, उसका विवाह, उसकी मृत्यु, सब एक ही नियम पर आधारित हैं। सारा संसार, चाहे वह पेड़-पौधा हो, पशु-पक्षी हो, कीट-पतंग हो अथवा मनुष्य, सब कुछ प्रकृति के नियमों पर आधारित है। प्रकृति के नियमों पर आश्रित होकर सब कुछ चलता जा रहा है। जब हम इस सत्य को नहीं जानते तब छोटी-छोटी चीजों से घबराते हैं। क्या होगा? असुरक्षा की भावना है! अरे, जो होना है सो होगा, देखा जाएगा, उसमें सोचना क्या है। लड़का कहीं बीमार हो गया और मर गया? अजी, पहले भी नहीं था, तो बाद में भी नहीं होगा। बीच में थोड़ा मजा ले लिया, काम खत्म।

आखिर कहाँ तक आदमी दुनिया की चीजों में सिर मारे? अपना जो काम है ठीक ढंग से पूरा करो, बस। मियाँ, बीबी, बच्चे हैं, ठीक ढंग से गृहस्थी चलाओ, प्रेम से रहो। मगर होता क्या है कि हम सब परिवार वाले लोग शादी के बाद रूममेट की तरह जीवन-यापन करते हैं। रूममेट का मतलब जानते हो न, कमरे का साथी। कोई भी प्रेम-संबंध या स्नेह-सूत्र या लीला-सूत्र नहीं है, कुछ भी नहीं है। केवल एक कमरे में दो लोग रहते हैं जिन्हें एक-दूसरे के साथ मजबूरी में रहना पड़ता है, छोड़ भी नहीं सकते। धर्म ने ऐसी गाँठ बाँध करके रखी है कि छोड़ना भी चाहें तो छोड़ नहीं सकते। दोनों एकदम ऐसे हो गये हैं कि फिट नहीं बैठते हैं, अब यदि उनमें संघर्ष नहीं होगा तो होगा क्या?

जब हम लोग इस जीवन में आये हैं तो उसका कुछ लक्ष्य है। प्रकृति ने आध्यात्मिक विकास के लिये मानव शरीर दिया है, न कि वासनात्मक प्रवाह में बहने के लिये। शास्त्रों में कहा है – *'आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्'* अर्थात् आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से होते हैं। जब दोनों एक ही चीज करने लगें तो फिर मनुष्य और पशु में क्या फर्क है? इसका मतलब विकास तो हुआ ही नहीं। वह चार पौरों पर चलने वाला जानवर है और हम दो पौरों पर चलने वाले जानवर, फर्क बस इतना है कि उनके सींग और पूँछ हैं, हमारे नहीं। आहार, निद्रा, भय और मैथुन – ये चारों कर्म तो उनके और हमारे समान हो गये। जैसे कुत्ता है, दिनभर जहाँ भी देखो खाना ही खोजते रहता है और जब समय मिला तो सो जाता है। तब मनुष्य में विशेषता क्या है? इसलिये आगे लिखा है, *'ज्ञानो हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीना: पशुभि: समाना:'* अर्थात् मनुष्य में ज्ञान की विशेषता है। यही ज्ञान मनुष्य को पशु से पृथक् करता है अन्यथा ज्ञान न रहा तो पशु और हम बराबर हैं। इसलिये उस ज्ञान की विशेषता को हमें बढ़ाना चाहिये। जब हम ज्ञान की विशेषता को बढ़ायेंगे तब कहीं जाकर हमें सृष्टि के रहस्य का पता चलेगा।

महाभारत के युद्ध से पहले अर्जुन को बड़ी मुश्किल हो रही थी। श्रीमद्भगवद्गीता में आता है कि अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा, 'यदि इतने लोगों को हम मारेंगे तो पाप नहीं लगेगा क्या?' उसकी इस शंका को मिटाने के लिये भगवान कृष्ण उसको समझाते थे, मगर उसकी समझ में कुछ नहीं आता था। वह कभी कुछ बोलता था तो कभी कुछ। अन्त में उसने पूछा, 'मुझे साफ-साफ बोलिये, मैं लड़ूँ या न लड़ूँ? तब भगवान कृष्ण ने उसको अपना विराट् रूप दिखलाया और कहा, 'तुम तो केवल निमित्त हो, कर्त्ता नहीं। कर्त्ता तो मैं स्वयं हूँ।' उन्होंने उसे सिनेमा की वह रील भी दिखलाई जिसमें अर्जुन ने देखा कि भीष्म, द्रोण, जयद्रथ आदि जितने भी बड़े-बड़े शूरवीर योद्धा थे, सब मर चुके थे, उनका संहार हो चुका था, जबकि सेना में वे सब जिन्दा थे। इस संबंध में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पुन: समझाते हुए कहा, 'अर्जुन, तुम स्वयं कर्त्ता नहीं हो। तुम्हें तो यहाँ मात्र योगदान देना है, इस नाटक में तुमको अपनी भूमिका भर अदा करनी है। अत: उठो और इनका वध करो। यदि तुम ऐसा नहीं भी करोगे और कहोगे कि हम नहीं मारेंगे तथा गांडीव धनुष छोड़कर बैठ जाओगे, तो भी इनका मरना तो निश्चित ही है।' अर्जुन ने कहा, 'विचित्र

बात है। जब ये लोग सचमुच मर ही चुके हैं और इनकी पक्की फिल्म भी बन चुकी है तो फिर मेरी क्या जरूरत है?' श्रीकृष्ण ने कहा, 'बस, *निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्,* अर्जुन केवल निमित्त बनो, नौकरी करो।' हम लोगों को भोग भोगते समय, शोक में, आपत्ति में, विपत्ति में, केवल यही ख्याल रखना है कि हम नौकर हैं और एक नौकर या दास के रूप में हमें यह काम करना है।

यह सूत्र तो बतला दिया, मगर इसको जीवन में उतारना उतना सरल नहीं है, बहुत कठिन है। इस संदर्भ में एक उदाहरण देता हूँ। किसी गाँव में एक महात्माजी रहते थे। उनके बगल में एक मियाँजी रहते थे। एक दिन मियाँजी की बकरी मर गई तो वे जोर-जोर से रोने लगे। महात्माजी के कानों तक आवाज गई तो वे सान्त्वना देने के लिये मियाँजी के यहाँ उपस्थित हुए और बोले, 'मियाँजी, काहे रोते हो?' मियाँजी बोले, 'मेरी बकरी मर गई है।' महात्माजी ने कहा, 'अजीब आदमी हो! अरे, वह बकरी थोड़े ही है। बकरी का शरीर तो उसका आवरण है। वह तो अमर आत्मा है। भला आत्मा कहीं मरती भी है? यह जन्म-मरण वाला किस्सा तो पुराना कपड़ा बदलकर नया कपड़ा पहनने जैसा है।' ऐसा कहकर उन्होंने गीता का *'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि'* वाला श्लोक भी दोहरा दिया। अब मियाँजी को कुछ सान्त्वना मिली कि नहीं, यह तो मालूम नहीं, मगर वे चुप हो गये और महात्माजी अपने घर चले गये।

एक दिन हुआ क्या कि महात्माजी की भी बकरी मर गई। अब महात्माजी बकरी का नाम लेकर जोर-जोर से रोने लगे। मियाँजी ने भी सुना और पहुँचे महात्माजी के पास सान्त्वना देने के लिये। वहाँ जाकर देखा कि महात्माजी मरी हुई बकरी की गर्दन में हाथ डालकर बड़े जोर-जोर से रो रहे हैं। उन्होंने पूछा, 'क्या हो गया महाराज?' उन्होंने कहा, 'बकरी मर गई है।' तो मियाँजी बाले, 'जिस दिन हम रो रहे थे उस दिन तो आप बोल रहे थे कि आत्मा अमर है', फिर आज आप क्यों रो रहे हो?' महात्माजी को बड़ा गुस्सा आया, बोले, 'उस दिन तुम्हारी बकरी मर गई थी तब कहा था। अभी मेरी बकरी मरी है।'

अब आप सोचिये कैसी दुनिया है। जब कोई चीज दूसरे की होती है तो ज्ञान याद आता है और जब अपनी चीज होती तो ज्ञान 'हरि: ॐ तत्सत्' हो जाता है। जो ज्ञान दोनों परिस्थितियों में बराबर रहता है वही जीवन का वास्तविक कल्याण करता है और जीवनमुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

तीन योगों का समन्वय

कर्मयोग, भक्तियोग या अन्य योग अलग-अलग नहीं हैं। ये योग के विभाजन लोगों ने समझाने के लिये बनाये हैं, जैसे शरीर को समझाने के लिये आँख, नाक, कान इत्यादि बतलाते हैं। उसी प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञान हर मनुष्य के जीवन में साथ चलते हैं। प्राचीन काल में भगवान श्रीकृष्ण अपने गुरु सांदीपनि के आश्रम में समिधा के लिये लकड़ियाँ इकट्ठी करते थे, और भी बहुत-से काम करते थे, लेकिन जब श्रीकृष्ण गुरु आश्रम से वापस गोकुल

आये तो किस रूप में आये? एक प्रबल योद्धा के रूप में, एक प्रखर राजनीतिज्ञ के रूप में, एक संगठनकर्ता के रूप में। कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि पर जब वे गीता का उपदेश देते हैं तो एक उच्च दार्शनिक के रूप में सामने आते हैं। महाभारत की अन्य कहानियों में वे बड़े निपुण कूटनीतिज्ञ दिखायी देते हैं। यह सब उनको अपने गुरु सांदीपनि के आश्रम में सीखने को मिला।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आप जहाँ भी रहो तीनों योगों का समन्वय करके रहो। उपासना का संबंध भावना से है, ज्ञान का संबंध बुद्धि से है, और कर्म का संबंध इन्द्रियों और शरीर से है। आप केवल शरीर, बुद्धि या भावना नहीं हैं, आप इन तीनों का समन्वय हैं। मनुष्य शरीर, बुद्धि और भावना का समन्वित एकीकरण है। इसलिये तीनों प्रकार के योगों को अपने दैनिक जीवन में किसी-न-किसी रूप में लगाना चाहिये। महापुरुषों के जीवन को देखिये, भगवान बुद्ध कर्मयोगी थे या राजयोगी थे या ज्ञानयोगी थे? वैसे ही महात्मा गाँधी ज्ञानयोगी थे, कि कर्मयोगी थे, कि राजयोगी थे, कि भक्तियोगी थे? श्रीकृष्ण को क्या कहोगे? कोई कहता है कि वे बहुत बड़े कर्मयोगी थे, कोई कहता है कि वे सम्पूर्ण, समन्वित रूप में थे। इसलिये जीवन में तीनों प्रकार के योगों का समन्वय होना आवश्यक है।

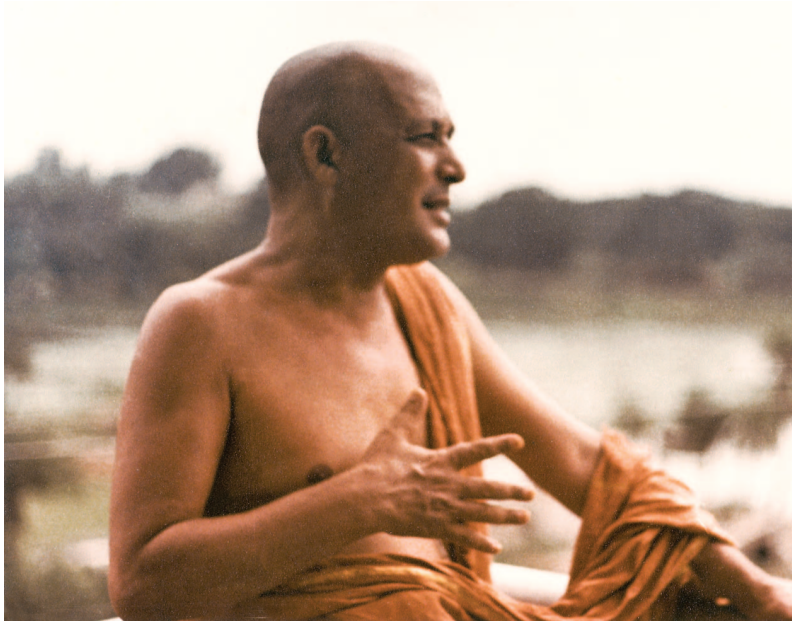

निष्काम कर्म

निष्काम कर्म का क्या मतलब है? जैसे सुबह नहाना, कपड़ा धोना, कमरा साफ करना, अलमारी ठीक करना, शौचालय साफ करना, सड़क में झाड़ू देना – इन नित्य कर्मों में इच्छा या कामना सम्मिलित नहीं है। जो नैमित्तिक कर्म होते हैं, जैसे बच्चे को पढ़ाना, लड़की की शादी करना या मकान बनाना, इन्हें अगर अनासक्ति से करें तो निष्काम कर्म हो सकते हैं। नित्य कर्म बंधन का कारण नहीं है, उससे संस्कार नहीं बनते। नैमित्तिक कर्मों को जितनी समझ के साथ, बिना भ्रांति के करेंगे उतना अच्छा होगा। इन कर्मों को अपना धर्म समझकर करना चाहिये। लड़की की शादी करनी है, लड़के को पढ़ाना है, अनासक्त भाव से यह सब काम करना चाहिए।

काम्य कर्म से जन्म-जन्मांतर के संस्कार बनते हैं, जबकि परमार्थ से संस्कारों का नाश होता है। काम्य कर्म को कामना के भाव से नहीं, परमार्थ भाव से, सेवा भाव से करना चाहिए। तब मुक्ति का सम्पादन होता है। परमार्थ में भी कामना रहती है, पर वह दूसरों के लिये रहती है। अपना भला चाहना

स्वार्थ है और दूसरे का भला चाहना परमार्थ। मेरा बच्चा अच्छा हो जाये, मेरी पत्नी अच्छी हो जाये, वह परमार्थ नहीं है। मगर दूसरों के लिये किया गया कर्म परमार्थ है और वह निष्काम हो सकता है। निष्काम भाव से कुछ करने से कर्म नहीं बनता है।

मनुष्य के जीवन में जो मूल परिवर्तन होते हैं उसको कहते है कर्म-नाश या संस्कारों का नाश। पूजा-पाठ या जप-ध्यान मन में थोड़ी शांति लाते हैं, लेकिन कर्म का नाश केवल कर्म से ही होता है। कुण्डलिनी जगने से संस्कारों का नाश नहीं होता है। कुण्डलिनी जाग जाये तो मैं सिद्धि प्राप्त कर लूँ या टेलीपैथी आदि करने लगूँ, यह सब करने से कर्म का नाश नहीं होता है। व्यक्ति को कर्म को तो भोगना ही पड़ेगा। कुण्डलिनी जागरण के द्वारा जब योगी सिद्ध हो जाता है तो ऐसा नहीं कि यह जागरण उसके सारे दुःख दूर करता है। कर्म तो उसे भोगना ही पड़ता है। कुछ समय के लिए ठीक है, लेकिन कर्म से कोई छूट नहीं सकता है।

राजयोग में ध्यान की अवस्था में जाने के बाद भी सुख-दुःख का भोग रहता ही है। नित्य कर्म के अलावा जो अनित्य कर्म हैं उनको भी शुद्ध करना चाहिये। उसके लिये कर्मयोग बहुत आवश्यक है। उसके साथ-साथ आप हठयोग आदि का अभ्यास कर सकते हैं। तभी मुक्ति मिल सकती है, अन्यथा समाधि के प्राप्त होने पर भी मुक्ति नहीं होती। कर्मयोग का अर्थ बिना अहंकार के, पूर्ण सजगता के साथ और दूसरों के हित के लिए कर्म करना है।

सत्यम् संवाद

कर्म क्या है?

कर्म का शाब्दिक अर्थ है कार्य, लेकिन कार्य तो अपने आप में कुछ नहीं है। मान लो, मुझे युद्ध में जाना पड़े और वहाँ मैंने कई लोगों को मार डाला। यह मेरा कार्य होगा, यह मेरा कर्म नहीं हो सकता। दूसरी ओर घृणावश अगर मैं लोगों को मारता हूँ तो वह मेरा कर्म है, क्योंकि वह मेरे मन और व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। इस प्रकार कार्य और कर्म की व्याख्या करते समय यह भी समझना चाहिये कि व्यक्ति के मन पर जीवन की घटनाओं का प्रभाव होना भी कर्म का एक मतलब होता है।

भारतीय दर्शन के अनुसार तुम घर की सफाई करना या खाना बनाना जैसा कोई भी कार्य बिल्कुल नहीं करते हो तब भी तुम कर्म कर रहे हो। यहाँ तक कि रात्रि में गहरी निद्रा में भी मनुष्य अपनी चेतना के गहरे स्तरों में कर्म करता रहता है। प्राथमिक तौर पर तो मनुष्य अपने अचेतन में ही कार्य करता है, चेतन कार्य तो उसके अचेतन के प्रयोजन की अभिव्यक्ति मात्र हैं। शरीर के अवयव भी कदापि निष्क्रिय नहीं होते, दस से भी अधिक शारीरिक संस्थान निरंतर कार्य करते रहते हैं। इस प्रकार से जीवन में एक क्षण भी ऐसा नहीं जिसमें मनुष्य क्रियाहीन रह सके।

कर्म भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं क्या?

हाँ, कर्म कई प्रकार के होते हैं। कुछ को हम दैनिक कर्म कहते हैं, जिनका हमारे आन्तरिक जीवन से कोई खास संबंध नहीं होता। ये तो यांत्रिक और नित्यकर्म हैं। हम पर इनका इतना ही प्रभाव पड़ता है कि हम उन्हें रोज करते-करते उनसे ऊब या थक जाते हैं। एक दूसरे प्रकार का कर्म भी है जिसे स्वार्थ-प्रेरित कर्म कहते हैं। इसे दिमाग में कोई निश्चित स्वार्थ रखकर किया जाता है और यह कर्म बीज पैदा करता है। ये बीज चित्त पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं और शरीर, मन, भावना सहित सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। जैसे मान लो मैं एक व्यापार शुरू करता हूँ। व्यापार सफल हुआ तो मैं प्रसन्न होता हूँ और असफल होने से मैं बहुत दु:खी होता हूँ। मेरी यह मनःस्थिति व्यापार के कारण नहीं, बल्कि मेरे इरादे के कारण होती है। हमारे

इरादे के मूल में जो भावना बैठी है, उसी के अनुसार कर्म के परिणामों का प्रभाव हम पर होता है।

यदि मैं न्यायाधीश हूँ और किसी खतरनाक, हिंसक अपराधी को सामाजिक सुरक्षा के नाम पर फाँसी की सजा दे देता हूँ, तो इस कर्म के द्वारा मैं बीज उत्पन्न करने वाला कोई कर्म नहीं कर रहा हूँ, जो वापस आकर मेरा पीछा करे। लेकिन अपराधी को सजा देने का कार्य अगर व्यक्तिगत हो अथवा ईर्ष्यावश हो तो मुझे कर्म का परिणाम जरूर भुगतना पड़ेगा। यह सार्वभौमिक सिद्धान्त है।

मैं पुनर्जन्म पर विश्वास नहीं करता, इसलिए कर्म के अस्तित्व को स्वीकार करने में मुझे कठिनाई होती है, इसका क्या समाधान है?

तुम पुनर्जन्म पर विश्वास करो या न करो, लेकिन कर्म तो तुममें रहेगा ही। कर्म को सूक्ष्म रूपों में तो तुमने अपने माँ-बाप से विरासत में ही प्राप्त कर लिया है। विज्ञान में इसे आणविक विरासत कहते हैं, डी.एन.ए. अणुओं से मिली विरासत। अगर तुम्हारे पिता या दादा को कोई रोग रहा हो तो संभव है कि वह रोग तुमको भी ग्रसेगा। कर्म का तात्पर्य केवल तुम्हारे द्वारा पिछले जीवन से प्राप्त कर्म ही नहीं होता। कर्म तो हमारे पूर्व जीवन से, बाप, दादा और परदादाओं से, हमारे वर्तमान जीवन से और वातावरण से मिलता है।

कर्म से मुक्ति या उस पर नियंत्रण पाने के लिए कोई युक्ति है क्या?

कर्म से मुक्त होना सरल नहीं है, हर आदमी उसका शिकार है। हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है जो या तो अनुकूल होती है या प्रतिकूल। यह विज्ञान में न्यूटन का प्रथम नियम है। घड़ी के पेंडुलम को दायीं ओर जितना अधिक दबायेंगे, छोड़ने पर वह बायीं ओर उतनी ही ज्यादा जोर से भागेगा। उसके बाद दायीं ओर जायेगा और फिर बायीं ओर, इसे कहते हैं क्रिया और प्रतिक्रिया। जीवन में कोई भी क्रिया निरर्थक नहीं जाती और अपने आप में कोई भी चीज तुम छिपा भी नहीं सकते। तुम स्वयं ही अपने साक्षी हो। तुम्हें अच्छी तरह से मालूम है कि तुम क्या सोचते हो, क्या अनुभव करते हो और क्या करते हो। तुम अपना निश्चय स्वंय ही जानते हो। अपने आपका आत्मनिरीक्षण करते हुए तुम अपने कर्मों को नियंत्रित कर सकते हो।

अपने आपको कर्म से मुक्त करने के लिए कई रास्ते हैं। सबसे लघु मार्ग है त्याग और तपस्या का, लेकिन यह बहुत कठिन है। ध्यान की पद्धति

आसान है, इससे भी आसान एक और विधि है, वह है एक उच्च गुरु की खोज करो और उनसे एक मन्त्र प्राप्त करो। कुछ निश्चित काल तक उनके सत्संग में रहो और तब धीरे-धीरे कर्म का क्षय होता जायेगा। आध्यात्मिक जीवन में एक बार प्रगति कर लेने पर भाग्य के कुछ खास अंश तो किनारे छूट ही जाते हैं।

हमारे अपने चयन और कर्म में क्या अंतर होता है?

चयन भी तो कर्म ही है। ब्रह्मण्ड में दो शक्तियाँ हैं, एक को कहते हैं कर्म जिसमें क्रिया और प्रतिक्रिया आती हैं और दूसरी है स्वतंत्र इच्छा। स्वतंत्र इच्छा कर्म के अन्तर्गत नहीं आती। तुम इच्छा करते हो और वैसा ही होने लगता है। इच्छा कर्म से स्वतंत्र होती है, लेकिन इच्छाशक्ति की तीव्रता को आध्यात्मिक जीवन में प्रतिफलित होने में समय लगता है। जब व्यक्ति उच्च

विकास करके अपने मन का मास्टर बन जाता है तब उसकी इच्छाशक्ति की योग्यता भी बढ़ती है।

शक्तिशाली मन कभी तो जीवन की घटनाओं को स्वरूप देने में समर्थ हो जाता है, मगर यह भी कर्म के प्रवाह का ही एक अंग है। यदि तुम दृढ़ता से सोचो कि 'मैं यह काम करके रहूँगा' और वह हो जाता है तो इसे इच्छा की उपलब्धि नहीं समझो, वह तो तुम्हारे दृढ़ मानसिक चयन का प्रतिफल है। इच्छाशक्ति और मानसिक चयन में बड़ा अन्तर है। इच्छाशक्ति एक जबरदस्त शक्ति है और जब उसे पूर्ण विकसित कर लोगे तब कर्म की गहनता को तुम पार कर जाओगे। तब तुम्हारी विकास प्रक्रिया पूरी हो जायेगी और तुम एक सह-विधाता, छोटे भगवान ही बन जाते हो।

कर्म क्षय से ही व्यक्ति यदि जीवनमुक्त बनता है तब तो उसे नये कर्म नहीं करने चाहिये जिससे अधिक कर्म संचय न होने पाय?

मोक्ष का मतलब कार्य अथवा कर्म का त्याग नहीं होता है। एक जीवनमुक्त व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, भावनात्मक और इन्द्रिय स्तर पर अपना कार्य जारी रखता है। वह हल चला सकता है या कोई भी काम कर सकता है। आदमी कर्म से थोड़े ही बँधता है, बँधता तो है अहंकार से। जब तक तुम्हारे

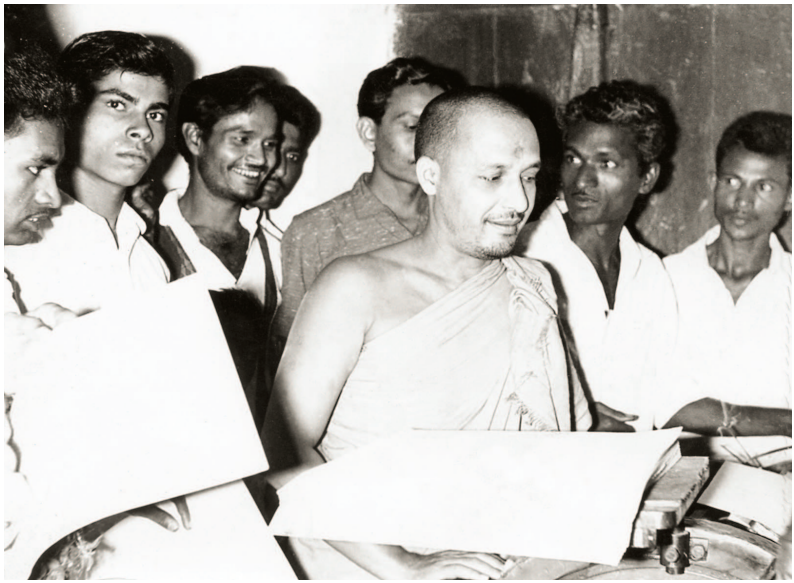

कार्यों में अहं भाव बना रहता है, कर्म तो तुम्हारी पूँजी बनता ही जायेगा और उसकी जिम्मेदारी तुम्हें स्वीकारनी ही होगी।

जीवनमुक्त व्यक्ति अपने कर्मों से अहंभाव को पृथक् कर देता है। वह तो एक नौकर की तरह या दुकान के सेल्समैन की तरह काम करता है। सेल्समैन अपने शरीर, दिमाग और बुद्धि से काम तो करता है, लेकिन दुकानदारी की जिम्मेदारी उस पर नहीं होती। दूसरी ओर दुकान का मालिक अपने अहं को दुकान से अलग नहीं कर पाता, इसलिए दुकान में जो कुछ अच्छा या बुरा कर्म होता है उसकी जिम्मेदारी उसी पर होती है। लाभ और हानि दोनों उसी के हैं क्योंकि उसका व्यक्तित्व और अहं उसमें शामिल है। जहाँ अहंभाव शामिल है, वहाँ कर्म बनता है और जहाँ पर अहंभाव शामिल नहीं है वहाँ कर्म नहीं बनता।

तपस्या और तितिक्षा के द्वारा कर्म का उन्मूलन संभव है क्या?

कर्म का प्रथम सिद्धान्त यह है कि अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के कर्मों के परिणामों से गुजरना पड़ता ही है। बहुत बार ऐसा लगता है कि इस कर्म-सिद्धांत से भागकर बचा भी जा सकता है और उसकी उपेक्षा कर सकते हैं, लेकिन नहीं! आपको नियति की शर्तो को पूरा करना ही पड़ेगा, दूसरा और कोई रास्ता नहीं है। हाँ, कर्म के भार को मुक्त करने के लिए हमारे प्राचीन चिन्तकों ने दो तरीके बताए हैं – एक है तपस्या का व्यवस्थित तरीका, जो आज के समय में हर एक के लिये अनुकूल रहेगा और दूसरा तरीका है तितिक्षा का, जो अधिक कष्टप्रद है, लेकिन प्रयत्न साध्य है।

तपस्या का अर्थ है स्वेच्छा से स्वीकृत कष्ट की प्रक्रिया से गुजरना। इस प्रक्रिया से अगर तुम स्वेच्छा से नहीं जाते हो तो प्रकृति तुम्हें बाध्य करके वहाँ ढकेल देती है। यदि तुम्हें कब्जियत है तो कभी भी उससे बवासीर या और कोई दूसरी शिकायत हो सकती है। अगर तुम तकलीफ उठाकर एक घंटे शंखप्रक्षालन का अभ्यास कर लेते हो तो कब्ज के दु:खद कर्मों से बच सकते हो। अन्यथा कब्ज के परिणामों को महीनों और वर्षों तक भुगतना पड़ सकता है। इस तरह कर्म के अनिवार्य रूप से होने वाले कष्टों को तपस्या कम कर देती है।

तितिक्षा कहते हैं सहनशीलता को। शीत-उष्ण, मान-अपमान सबमें एक सन्तुलित मन:स्थिति को बनाए रखने की योग्यता प्राप्त करना तितिक्षा है। लाभ-हानि, हर्ष-विषाद, विजय-पराजय – इन सब से मन अप्रभावित रहे। जीवन की प्रतिकूल और विषम परिस्थितियों में फेंके जाने पर भी आप

कठिनाइयों को सह सकते हैं, धीरज रख सकते हैं। तपस्या और तितिक्षा के अभ्यास द्वारा ढेर सारे कर्मों का क्षय किया जा सकता है।

किसी अन्य के कर्मों को ले पाना संभव है क्या?

यदि दो व्यक्तियों के बीच परस्पर गहन संपर्क अथवा आत्मिक लगाव हो तो कर्म का स्थानान्तरण संभव हो सकता है। भावना की गहराई ही इसमें मुख्य जिम्मेदार चीज है। यदि तुम किसी से अतिशय प्रेम करते हो, चाहे वह तुम्हारा मित्र, पति, पत्नी, बच्चा या प्रेमी ही क्यों न हो, तो वह एक स्वाभाविक प्रक्रिया बन जाती है। यहाँ तक कि तुम अपने दुश्मन के कर्म को भी अपने ऊपर ले सकते हो यदि उसके प्रति तुम निरंतर सजग रहते हो, उसका ख्याल करते रहते हो।

गुरु-शिष्य संबंध देखें तो यदि दोनों शक्ति और चेतना के स्तर पर एक होंगे तो शिष्य के सभी कर्म स्वाभाविकतया गुरु को स्थानांतरित हो जाते हैं और दूसरी ओर, गुरु का ज्ञान भी सहज रूप से शिष्य में प्रवाहित हो जाता है। लेकिन यदि गुरु-शिष्य चेतना के स्तर पर एकरूप नहीं होंगे तब यह संभव नहीं होगा।

क्या हम अपने माँ-बाप के कर्मों के शिकार होते हैं?

हाँ, अपने माता-पिता के कर्मों को, चाहे वे अच्छे हों या बुरे, विरासत में हम लोग प्राप्त करते हैं। यदि अच्छे कर्म होंगे तो हमारे जीवन के विकास में वे सहायक होते हैं और यदि बुरे कर्म हुए तो हम उनके शिकार हो जाते हैं। इसलिए हर दम्पत्ति को बहुत सतर्क रहना चाहिये क्योंकि उनके द्वारा सृजित कर्मों के क्षय हेतु हर बच्चे को बहुत जूझना पड़ता है।

क्या कुछ लोग कर्मवश ही मानसिक विकार या शारीरिक दोष के साथ पैदा होते हैं?

आध्यात्मिक जीवन का अनुसरण करते हुए हम अन्तःकरण की शुचिता और शुद्धता का विकास करते हैं। इसके बाद कुछ निश्चित नियम हमारे मनोवैज्ञानिक एवं जैविक प्रक्रियाओं का नियमन करने लगते हैं, लेकिन अगर हम किसी ऐसी संस्कृति का पालन करते हों जो आध्यात्मिक अनुशासन या आदर्श का विरोध करती हो तब ऐसी हालत में वह संस्कृति उन सभी पद्धतियों व नियमों की भी उपेक्षा करेगी जो हमारी मनोवैज्ञानिक, जैविक और भावनात्मक प्रक्रियाओं पर नियंत्रण रखते हैं और जिन प्रक्रियाओं से हमारे सम्पूर्ण जीवन

क्रम का संचालन होता है। ऐसी संस्कृतियों में अनेकानेक दुःख भोग मिलते हैं, इसलिए हरेक पीढ़ी में शरीर या मन से विकृत अथवा निम्न मानसिक क्षमता वाले बच्चे पैदा होते रहते हैं।

दूसरों की तकलीफ के प्रति मैं संवेदनशील हूँ। किसी के दुःख को देखकर या किसी की गम्भीर समस्या को हल करने में अगर मैं उसकी सहायता करना चाहूँ तो क्या वह मेरा कर्म-दोष होगा?

नहीं, वह एक शुभ कर्म है। ऐसा करके तुम अपने कर्म के भण्डार को कम करके अपने चित्त की शुद्धि ही कर रहे हो। अपने परिवार के सदस्यों का दुःख देखकर सहानुभूति या संवेदनशीलता का होना स्वाभाविक है, लेकिन अगर किसी अपरिचित व्यक्ति के कारण दुःख झेलते हो तो इसको निःस्वार्थ कर्म कहेंगे। इसका यह भी अर्थ हुआ कि तुम अपने सीमित व्यक्तित्व की चेतना से ऊपर उठ चुके हो। इसलिए एक अपरिचित के लिए तुम्हें पीड़ा हो रही है।

जब तुम्हें अपने आत्मीय जनों की पीड़ा का अनुभव होता है तो उसे सहानुभूति कहते हैं। जब दूसरों की पीड़ा की तुम्हें अनुभूति होती है तो उसे करुणा कहते हैं। दूसरे शब्दों में स्वार्थरहित कृपा को करुणा या दया कहते हैं और स्वार्थयुक्त कृपा को सहानुभूति कहते हैं।

क्या पशु भी मनुष्य की भाँति ही कर्म के बंधन में होते हैं?

सृष्टि का हर जीव, यहाँ तक कि खनिज और वनस्पति भी, पूर्व निश्चित विशिष्ट कर्म सिद्धांत द्वारा ही क्रियाशील है। जब तक मनुष्य मन से शक्तिहीन और तन से बलहीन है तब तक वह भी नियति के निश्चित सिद्धांत का शिकार है, लेकिन जैसे-जैसे वह उच्चतर चेतना का विकास करता जाता है, भाग्य के लेखों और कर्मों का वह क्रमशः अतिक्रमण करता है और तब तो अपने लिए नए नियम और आदेश बनाने में भी समर्थ हो जाता है।

जब एक जीव मनुष्य के रूप में पैदा होता है तो वह अपने साथ ज्ञान नामक उच्च स्तर की चेतना लेकर आता है। यह सुविधा अन्य जीवों को नहीं प्राप्त होती। देश और काल से सापेक्ष अपने अस्तित्व की सजगता ही ज्ञान है। 'मैं जानता हूँ कि मैं हूँ, मुझे मालूम है कि मैं जानता हूँ कि मैं हूँ' – यही ज्ञान है।

आदमी कोई गलती करता है तो दुःख पायेगा ही क्योंकि वह जानता है कि उसने कोई गलती की है। अगर वह किसी की हत्या करता है तो उसका दुःख भोगना ही होगा, सामाजिक स्तर पर नहीं तो मानसिक रूप से तो निश्चित ही। अगर वह चोरी करता है या अपनी मान्यतानुसार कोई भी गलती करता है तो उसे मानसिक शोक, अवसाद, ग्लानि, पश्चाताप तो होंगे ही। क्यों? उसकी सजगता और जानकारी के कारण। अब दूसरी ओर देखें, अगर एक कुत्ता किसी को काट देता है तो उसे दुःख नहीं भोगना पड़ेगा और उसे कोई

समस्या भी नहीं होगी। पशु तुम्हें काटें या सेवा करें, लेकिन प्रकृति उन्हें इनाम या सजा नहीं देगी। उनके कर्मों से प्रतिकर्म नहीं उत्पन्न होते।

आध्यात्मिक विकास की अवधि में व्यक्ति क्या सदैव अग्रसर ही होता है अथवा कभी-कभी कर्म उसे पीछे भी ढकेल देते हैं?

हिन्दू-दर्शन के अनुसार विकास प्रक्रिया निरंतर प्रगतिशील है, लेकिन कभी-कभी कर्मवश पीछे भी जाना पड़ता है। मान लो, तुम आध्यात्मिक व्यक्ति हो और तुम चेतना के उच्च आयामों को पाना चाहते हो, मगर एक विशेष स्थिति में पहुँचकर तुम्हें ज्ञात होता है कि तुममें वासना है, इन्द्रिय सुखभोग की लालसा बनी हुई है या प्रतिशोध लेने की कामना है। अब क्या करोगे? तुम्हारा वही हाल होगा जैसे तुम एयरपोर्ट जाते समय अपना पासपोर्ट घर छोड़ आये हो। क्या करोगे तब? तुम्हें वापस भागना होगा, काम निपटाया और फिर आगे के लिए रवाना हुए।

आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश हो जाने पर तुम्हें शरीर से पशु नहीं बनना पड़ता। तुम मनुष्य ही रहते हो। तुम शेर जैसा व्यवहार शायद कर सकते हो, मगर शरीर नहीं बदलता। वह तो एक अनुभव मात्र है। जब कर्मवश तुम्हें वापस भी होना पड़े तो वह गमन क्षणिक और अस्थायी होता है क्योंकि वह दुःख-भोग के लिए नहीं, अनुभव के लिए ही मिलता है।

क्या भाग्य का अस्तित्व है या अपने भाग्य का निर्माण और नियंत्रण हम स्वयं करते हैं?

भाग्य का अस्तित्व निश्चित रूप से है। अगर तुम्हें बम्बई वापस जाना हो तो वही तुम्हारा गंतव्य हो जाता है, वह तुम्हारा भाग्य हुआ। कर्म और प्रतिकर्म के सिद्धांत पर ही भाग्य आधारित है। हर कर्म की प्रतिक्रिया होती ही है। झील के पानी में कंकड़ फेंकने पर उससे लहरें बनती जाती हैं। इसी तरह जब तुम कर्म करते हो तो उसकी लहरें, उसके प्रतिकर्म ब्रह्माण्ड में बनते जाते हैं।

कर्म केवल क्रिया या कार्य ही नहीं है, बल्कि एक विचार या भावना भी कर्म है। कर्म का अर्थ है गतिशीलता। जहाँ भी गति है वहाँ कर्म है। प्रत्येक कर्म स्पन्दन या प्रतिकर्म उत्पन्न करता है और यह क्रम निरंतर प्रवाह में जारी रहता है। काल के अन्तराल में यही क्रम गुणात्मक होकर लाखों प्रतिक्रियात्मक शक्तियों के रूप में जीवन में भर जाता है और इसी से हमारे

भाग्य का निर्माण होता है। भाग्य तो प्रकृति का सिद्धान्त है और हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। सभी प्राणी और वास्तव में सम्पूर्ण सृष्टि ही भाग्य के सिद्धांत के अन्तर्गत कार्यरत है।

कर्मयोग की क्या आवश्यकता है?

अपनी साधना के आरंभिक दिनों में मैं अपने गुरु के आश्रम में रहता था। आश्रम छोड़ने के बाद मैंने सोचा था कि मैं एकान्तवास करके आत्मचिंतन करता रहूँ, लेकिन अन्ततः सन् 1964 में मैंने मुंगेर में आश्रम की स्थापना की। तब बहुत-से लोग मेरे साथ रहने आये, लेकिन तीन-चार महीने से ज्यादा कोई नहीं ठहरा। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि आश्रम में उन दिनों कोई काम ही नहीं था। उन लोगों ने बहुत-से आसन, प्राणायाम, मंत्र, ध्यान वगैरह के अभ्यास सीखे, मगर इतने से उनके मन में स्थिरता नहीं आई क्योंकि उनके चित्त शुद्ध नहीं हुए थे।

कुछ सालों के बाद हमने आश्रम में बागवानी, टायपिंग, प्रिटिंग, लेखन, सम्पादन, किताब छपवाई और रसोई घर में थोड़ा बहुत काम शुरू किया और तभी से आश्रम में अन्तेवासियों की संख्या बढ़ने लगी। अब तो लोग आश्रम में कई वर्षों तक ठहर जाते हैं। कभी-कभी वे लोग दस-बारह वर्ष भी टिक जाते हैं और आश्रम जीवन की कठिनाइयों को प्रेम से सहन करते हैं। हर रविवार को मैं अपने संन्यासियों से कहता हूँ कि सभी काम-काज बिल्कुल बन्द कर दो। कभी-कभी मैं लगातार तीन दिनों तक सब काम बन्द करा देता हूँ और तब वे लोग बहुत परेशान हो जाते हैं। कई तो मेरे कमरे में आकर काम माँगना शुरू कर देते हैं। अब संन्यासी और साधक विद्यार्थी समझने लगे हैं कि प्रकृति ने मनुष्य में कार्य करने की इच्छा और अनिवार्यता स्वाभाविक रूप से ही दी है। यह है जीवन में इच्छा की सकारात्मक भूमिका।

अगर मनुष्य में इच्छा न होती तो वह कार्य करने को बाध्य ही नहीं होता और अगर काम नहीं करता तो उसका मानसिक विकास भी कदापि नहीं होता। जो व्यक्ति तमोगुण और रजोगुण में ही मस्त है उसे अनिवार्य रूप से कर्म करना चाहिये। उसके पास अपार संपत्ति और प्रचुर साधन-सुविधाएँ हों तब भी उसे काम करना ही चाहिये। हाँ, जीवन की सात्त्विक स्थिति में पहुँच जाने पर संतुलन और स्थिरता आ जावे तब आप बिना कर्म किये भी रह सकते हैं। चित्त की शुद्धि के लिए कर्म आवश्यक है। अगर तुम कर्मयोग की साधना करोगे तो यह चित्त शुद्धि और भी शीघ्र होने लगेगी।

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट

योग चक्र 2

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

पृष्ठ 50, ISBN: 978-93-94604-06-3

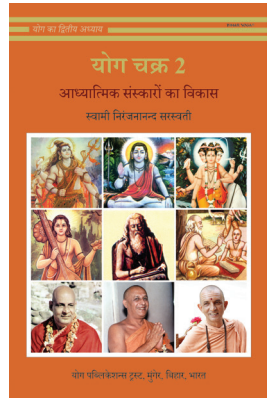

नया प्रकाशन

योग के अगले अध्याय के विकास क्रम में स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती ने 17 से 25 जुलाई 2015 तक गंगा दर्शन विश्व योगपीठ में आयोजित अध्यात्म संस्कार साधना सत्र में सत्संगों की एक शृंखला प्रस्तुत की। इन सत्संगों में स्वामीजी ने समझाया कि यम-नियम का अनुपालन ही सकारात्मक जीवन जीने का मार्ग है। स्वामीजी ने अन्य यौगिक और आध्यात्मिक साहित्यों से यम-नियमों को प्रस्तुत करते हुए दो यमों – *प्रसन्नता* और *क्षमा*, तथा दो नियमों – *जप* और *नमस्कार* को प्रधानता दी।

पुस्तकों की मूल्य सूची एवं क्रयादेश प्रपत्र प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें –
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, गरुड विष्णु, पी.ओ. गंगा दर्शन, फोर्ट, मुंगेर, बिहार 811201
दूरभाष : 91–6344–222430, 9162783904

जवाब के लिए अपना पता लिखा, डाकटिकट लगा लिफाफा भेजें, अन्यथा आपके आवेदन पर विचार नहीं किया जाएगा

वेबसाइट और एप्प

www.biharyoga.net

बिहार योग पद्धति की मुख्य वेबसाइट पर बिहार योग, बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट तथा योग शोध संस्थान संबंधी जानकारियाँ उपलब्ध हैं।

सत्यम् योग प्रसाद

बिहार योग परम्परा की समस्त प्रकाशित कृतियाँ *satyamyogaprasad.net* वेबसाइट पर तथा *Android* एवं *iOS* उपकरणों पर एप्प के रूप में प्रस्तुत हैं।

यौगिक जीवनशैली साधना

biharyoga.net तथा *satyamyogaprasad.net* पर स्वस्थ जीवन हेतु यौगिक जीवनशैली साधना उपलब्ध है।

योगा एवं योगविद्या ऑनलाइन

www.biharyoga.net/bihar-school-of-yoga/yoga-magazines/
www.biharyoga.net/bihar-school-of-yoga/yogavidya/

योगा एवं योगविद्या पत्रिकाएँ *Android* एवं *iOS* उपकरणों पर एप्प के रूप में भी उपलब्ध हैं।

अन्य एप्प (Android एवं iOS उपकरणों के लिए)

- योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की लोकप्रिय पुस्तक, ए.पी.एम.बी. अब सुविधाजनक एप्प के रूप में उपलब्ध है
- *Bihar Yoga* एप्प साधकों के लिए प्राचीन और नवीन यौगिक ज्ञान आधुनिक ढंग से पहुँचाता है
- *For Frontline Heroes* एप्प कोरोनावायरस के विरुद्ध अभियान में संघर्षरत कार्यकर्ताओं के लिए सरल योग अभ्यास प्रस्तुत करता है जो महामारी से उत्पन्न तनाव को सम्हालने में सहायक हैं

- Registered with the Department of Post, India
  Under No. MGR-01/2020-23
  Office of posting: Ganga Darshan TSO
  Date of posting: 1st-7th of every month
- Registered with the Registrar of Newspapers, India
  Under No. BIHHIN/2002/6306

issn 0972-5725

सभी ग्राहकों के लिए महत्त्वपूर्ण सूचना

आत्मस्वरूप

हरि: ॐ

हमें यह सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि जनवरी 2021 से मासिक योगा (अंग्रेज़ी) तथा योगविद्या (हिन्दी) पत्रिकाएँ सभी ग्राहकों, सहयोगियों, योगप्रेमियों, भक्तों तथा आध्यात्मिक साधकों के लिए निम्नांकित वेबसाइटों पर नि:शुल्क उपलब्ध हैं –

www.satyamyogaprasad.net

www.biharyoga.net

वर्तमान कोरोनावायरस महामारी और उससे उत्पन्न अनिश्चितता के कारण योगा और योगविद्या की प्रकाशित प्रतियाँ 2022 में ग्राहकों के लिए उपलब्ध नहीं रहेंगी। इसलिए 2022 में इन पत्रिकाओं के लिए नए सदस्यता आवेदन या पुरानी सदस्यता को बढ़ाने के आवेदन स्वीकार **नहीं** किए जा रहे हैं। अत: इन पत्रिकाओं के लिए सदस्यता आवेदन **मत** भेजिए।

पत्रिकाओं सम्बन्धी परिस्थिति की जानकारी आपको समय-समय पर मिलती रहेगी।

इस बीच श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती और श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती की शिक्षाओं को ग्रहण कर उन्हें अपनी दिनचर्या में आत्मसात् एवं अभिव्यक्त कीजिये ताकि आपका जीवन उदात्त और उन्नत बन सके।

आपके स्वास्थ्य, कल्याण और शांति के लिए श्री स्वामी सत्यानन्द जी के आशीर्वाद सहित,

ॐ तत्सत्

सम्पादक